

॥ ओ३म् ॥

हितोपदेशक (हिन्दी मासिक) उपनिषद् चर्चा

वर्ष ३१

सथवतांक-जनवरी से मार्च २०११

अंक ३-५

(दिवंग ला० बनारसीदास गुप्ता एवं कृष्णादेवी की पावन स्मृति में
लालाजी की १८ वीं पुण्यतिथि के अवसर पर यज्ञ प्रसाद के रूप में वितरित)



भेंटकर्ता : राजेन्द्रकुमार, पद्मकुमार, आनन्दस्वरूप, राजीवकुमार गुप्ता (पुत्रगण)

आयोजन तिथि : मंगलवार, 22 फरवरी 2011 (फाल्गुन कृष्ण 5 सं० 2067)

सम्पादक : महेशचन्द्र गर्ग, एम.ए. विद्यावाचस्पति

वैदिक सेवाश्रम ट्रस्ट, सासनी (हाथरस) २०४२१६

सम्पादकीय.....

दिवंगत ला. बनारसीदास गुप्ता की पुण्य तिथि पर प्रति वर्ष 'कर्म ही पूजा है' उनके जीवन आदर्श की श्रृंखला में कर्म करते रहने की प्रेरणा देने वाला साहित्य प्रकाशित होता रहा है, जिससे अनेकानेक व्यक्तियों को क्रियाशील रहने की सुन्दर शिक्षा प्राप्त हुई है। निसन्देह जीवन में सफलता और शांति प्राप्ति के लिए कर्म की साधना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु जीवन के आत्यंतिक उद्देश्य प्राप्ति-मृत्यु से पार होने के लिए न केवल ज्ञान और न केवल कर्म पर्याप्त है। ज्ञान और कर्म दोनों के मेल से ही भव बंधन छूटता, शांति प्राप्त होती है, किन्तु उससे भी आगे आनन्द की प्राप्ति केवल परमात्म ज्ञान से ही हो सकती है। मनुष्य जब तक प्रयास करके अपने को थका नहीं लेता तब तक ईश्वर की दया का पात्र भी नहीं होता। उसका यत्न-कर्म ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने से ही पूरा हो सकता है। इसी दृष्टि से अध्यात्म ज्ञान का कोष उपनिषद् चर्चा नामक छोटी सी पुस्तक के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपनिषदों का ज्ञान गूढ़ है। इस अंक में उसे सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रमाणित ग्यारह उपनिषदों के संस्कृत भाग को छोड़कर प्रत्येक उपनिषद का सार सरल भाषा में दिया गया है। उसके साथ ही जितनी भी आख्यायिकाएँ (चर्चाएँ-कहानी रूप हैं) वे सब सम्मिलित की गई हैं। आशा है कि साधारण हिन्दी पढ़ा लिखा व्यक्ति इस चर्चा के माध्यम से उपनिषदों में वर्णित अध्यात्म ज्ञान तक पहुँच सकेगा।

प्रिय पदमगुप्ता का परिवार इस पुनीत कार्य के लिए बधाई का पात्र है। माता-पिता संसार के दो ऐसे महान् देव हैं जिन्हें प्रसन्न, संतुष्ट रखना प्रत्येक भारतीय संतान की एक अनौखी विशेषता है किन्तु यह परिवार दिवंगत माता-पिता की स्मृति में भी एक विशिष्ट सामाजिक कार्य सम्पन्न करने का पुण्य लाभ प्राप्त कर रहा है।

आशा है पाठकों के ज्ञान सम्बर्द्धन और आत्मज्ञान की ओर रुचि आकर्षित करने में यह प्रयास सफल सिद्ध होगा।

॥ ओइम् ॥

उपनिषद् चर्चा

(ऋषि प्रमाणित ॥ उपनिषदों का संक्षिप्त सरल भाषा में वर्णन)

सम्पादकीय निवेदन-

वस्तुतः चिन्तन के क्षण हमें सम्पूर्ण जगत् अत्यन्त विचित्र अनुभव होता है और हम सृष्टि कला को देख विमुग्ध हो जाते हैं। यह जगत् घटनाओं का एक निरन्तर प्रवाह प्रतीत होता है किन्तु प्रश्न होता है कि यह प्रवाह स्वतः हो रहा है अथवा यह किसी से नियंत्रित या संचालित है ? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषद् देते हैं। उपनिषदों का कहना है कि यह सम्पूर्ण जगत्-प्रवाह का नियामक ब्रह्म संसार के कण कण में समाया हुआ है तब हम संसार की हर वस्तु में एकात्मता का अनुभव करते हैं। समुद्र हमारी शिराओं में बहने लगता है, सितारे हमारे शरीर के आभूषण बन जाते हैं। हर वस्तु हमें ब्रह्म अनुप्राणित प्रतीत होती है और हम गुनगुना उठते हैं।

साई मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर।

तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर॥

इस प्रकार की ब्रह्म अर्पित भावना उदय होने पर जीवन में लालच, छीना झपटी को स्थान कहाँ होगा ?

परब्रह्म परमात्मा ने यह सुन्दर जीवन तो दिया ही साथ ही इसको जीने की कला- वेदज्ञान भी दिया। प्रकृति का जीवन ब्रह्म से है, शरीर का जीवन आत्मा से। अतः हमें ब्रह्माण्ड में प्रकृति में न उलझकर ब्रह्म की प्राप्ति का यत्न करना चाहिये और पिण्ड में शरीर नहीं आत्मा

को जानना चाहिये। यह अध्यात्म ज्ञान उपनिषदों का विषय है। उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का वर्णन है जिससे संसार भर के मानवों को जीवन लक्ष्य उसकी प्राप्ति, अन्तः शांति और कल्याण प्राप्त हो सकता है। इसीलिये उपनिषदों को वैदिक साहित्य की अमर निधि और ऐसा ज्योतिर्मय नक्षत्र माना गया है जिसका पुण्य प्रकाश मानव जाति का पथ प्रदर्शन प्राचीन काल से करता रहा है।

चारों ओर ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में अंधेरा है। जब तक ठीक ठीक ज्ञान संसार में न फैले तब तक कोई मनुष्य सुख, शांति से जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। सब धर्म, कर्म, प्रतिष्ठा, सदाचार धन के आश्रित होने लगता है। जिनके विश्वास पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार सागर से पार लगाने के विचारों में मग्न थे वे भी टके के ध्यान में फँसकर स्वयं अपनी आयु को भँवर में फँसा बैठे हैं। अतः यह आवश्यक है कि ईश्वर-जीव-प्रकृति का ठीक ठीक ज्ञान जो उपनिषदों के आध्यम से ऋषियों ने दिया है उसे सरल भाषा में लोगों के समक्ष रखा जाय जिससे वह सम्यक ज्ञान प्राप्त कर अपने इस जीवन को सम्यक मार्ग पर चला सकें।

वर्तमान में लगभग 108 उपनिषदें उपलब्ध हैं किन्तु आदि शंकराचार्य से महर्षि दयानन्द सरस्वती तक प्रमुख आचार्यों के अनुसार ॥ उपनिषदें- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर प्रामाणिक एवं अधिक लोकप्रिय हैं। इन उपनिषदों पर आर्य जगत के विभिन्न विद्वान मनीषियों ने अनेक सुन्दर टीकायें लिखी हैं फिर मैं उपनिषद् चर्चा के नाम से एक और अलग कृति क्यों प्रकाशित कर रहा हूँ इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि मैंने अनेक टीकायें देखी हैं मेरा विचार है वह सामान्य व्यक्तियों से ऊपर के लिए उपयोगी हैं और कई तो विद्वानों के चिन्तन योग्य ही प्रतीत होती हैं। अतः मैंने अपनी अत्यल्प बुद्धि से उक्त प्रामाणिक ग्यारह

उपनिषदों का संक्षिप्त सार तथा उनमें उपलब्ध विभिन्न शिक्षाप्रद आख्यायिकाओं (सम्वादों) को सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिससे साधारण पढ़ा लिखा व्यक्ति भी उपनिषदों की चर्चा में भाग लेकर अपने इस श्रेष्ठ मानव जीवन के उद्देश्य को प्राप्त कर सके, अपने जीवन में वास्तविक शांति एवं सन्तोष प्राप्त कर सके।

आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे। जिन विभिन्न टीकाओं से मैं इस कृति को प्रकाशित कर सका उन सभी विद्वानों का आभार प्रकट करता हूँ।

सासनी प्रथम आवृत्ति संवत् 2053

द्वितीय आवृत्ति संवत् 2067

विनयावनत

महेशचन्द्र गर्ग

भूमिका

अध्यात्म ज्ञान गहन और अनन्त है। तत्त्व ज्ञान की जैसी खोज पुराकाल में भारत में हुई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इस तथ्य को पाश्चात्य दर्शनशास्त्री भी स्वीकार करते हैं। उपनिषद् का अभिप्राय उस ज्ञान से है जिससे अविद्या का नाश होकर आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है और दुःख का अन्त होता है। इनसे जिज्ञासु की अविद्या का नाश होकर उसे विद्या या ज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे उसके विविध दुखों का सर्वथा उन्मूलन होता है। अनेक ऋषियों को भिन्न-भिन्न काल में जिन आध्यात्मिक विचारों का स्फुरण हुआ वे भिन्न-भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं। भारतीय दर्शन की विभिन्न पद्धतियाँ उपनिषदों की ज्ञान धारा के पावन पीयूष को पाकर ही पल्लवित, विकसित हुई हैं। अतः उपनिषद् ब्रह्म विद्या के प्रमुख ग्रन्थ और अध्यात्म चिन्तन की अक्षय निधि हैं।

दर्शन और जीवन की जो रूपरेखा उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुई है वह भारतीय समाज में आदर्श मानी गई है। इस देश के समस्त दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आधार अधिकांश में उपनिषद् साहित्य ही रहा है। उपनिषदों की रचना तपस्वी ऋषियों ने की। वे ज्ञान की खोज में निष्काम परिश्रम करते थे और समाधिस्थ हो सत्य का दर्शन कर उसे मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये प्रकट करते थे। जब समाधिस्थ योगी अपना चरम लक्ष्य ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है तो भावनावश वह अपना अस्तित्व खो जाता है और वह अपने को ब्रह्म के असन्न समझने लगता है किन्तु जीवात्मा ब्रह्म जैसा हो जाता है, ब्रह्म नहीं यह बात ऋषियों की भावात्मक अभिव्यक्ति को समझते हुए स्पष्ट हो जाती है।

भारतीय जीवन को अध्यात्म तथा सात्त्विकता की ओर प्रवृत्त करने का सबसे अधिक श्रेय उपनिषद् साहित्य को ही है। ईश्वर,

जीव, प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करते हुए जीव को प्रकृति से विमुख कर ईश्वरोन्मुख करना और उसकी प्राप्ति हेतु आवश्यक साधनों, उपायों का निर्देश करना उपनिषदों का विषय है। उपनिषद् तर्क के नहीं अनुभूति, साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। ऋषिवर याज्ञवल्क्य ने बार बार कहा कि संसार है किन्तु अन्त तक रहने वाला नहीं। उपनिषद् यही तो कहता है यह सत् नहीं है सत वह है। इन्द्रिय नहीं मन-प्राण-आत्मा सत् हैं। इस दृष्टिकोण के सम्मुख भौतिक और आध्यात्मिक दोनों विचारक सिर झुकाते हैं।

उपनिषत्कार अनुभव की दृष्टि से सत्य की खोज करता है। वह जानना चाहता है जीवन में सुख कैसे मिलेगा? उसकी दृष्टि काल्पनिक दिमागी उड़ान नहीं अपितु क्रियात्मक दृष्टि है जिससे जीवन की मुख्य समस्या का क्रियात्मक हल निकल सके। उपनिषदों में मानव ही नहीं समस्त प्राणीमात्र के लिये जो उदात्त भाव मिलता है वह अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। उनके सिद्धान्त सनातन, सार्वभौम एवं चिरन्तन हैं। इसीलिये विश्व दर्शन में अग्रणी हैं। प्रकृति, जीव, ब्रह्म, भौतिक सृष्टि आदि का गम्भीर वर्णन और विवेचन इतने सुन्दर ढंग से दिया है जो विश्व के किसी अन्य धर्म ग्रन्थ में नहीं मिलता। मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक अर्थात् भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के सारे आधार उनमें विद्यमान हैं। वस्तुतः वे संसार में रहने का सही ढंग बताते हैं।

सारा ब्रह्मांड केवल हमारी पृथ्वी ही नहीं अरबों सौर मण्डल भी इसी में आते हैं। वह ब्रह्म सब जगह शासन कर रहा है। यह विश्वास होना चाहिये। एक ही विश्वास काम करेगा कि ब्रह्म सब जगह विद्यमान है वह जो कुछ करता है हमारे भले के लिये ही करता है। यह विश्वास आते ही वह डाँवाडोल नहीं होता। कड़कती बिजलियों, उमड़ते तूफानों, फटती जमीन में निर्भीक खड़ा रहता है और

विपत्तियों के सागर को पार कर जाता है। जो उसका सखा बन गया उसे कोई नीचे नहीं गिरा सकता। अतः उपनिषद् सदग्रन्थ हम लौकिक प्राणियों और परमात्मा के मध्यवर्ती सोपान हैं। इनसे हमें अनासक्तिमय ब्रह्मार्पण का भाव प्राप्त होता है।

उपनिषद् का अर्थ है आत्मज्ञान की समीपता, उपासना ब्रह्म विद्या का रहस्य आत्मा परमात्मा का भेद जानना। तप-सहनशीलता और सादा जीवन, दम-इन्द्रिय संयम और भावों का बुद्धि द्वारा मननिग्रह, कर्म-नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्य-पालन। ये तीनों ही उपनिषद् की प्रतिष्ठा हैं। तप, दम, कर्म इन तीन साधनों से साधक ब्रह्मोपासना का अधिकारी बनता है। जो ब्रह्मोपासना करता है वह पाप से बच जाता है और मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

उपनिषद् वह विद्या है जिसे प्राप्त करके अज्ञान के कारण होने वाले जन्म-मरण के बन्धन और मानापमान आदि द्वन्द्वों को प्रभावहीन करके मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। उपनिषद् वे ग्रन्थ हैं जिनको पढ़कर और उनके अनुसार आचरण करके मनुष्य भव बन्धनों से छूटने और परमात्मा को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

एक बार महात्मा गांधी पंजाबकेसरी ला० लाजपतराय की कोठी में लाहौर में ठहरे हुए थे। वहाँ दयानन्द ब्रह्म विद्यालय के आचार्य पं० विश्वबन्धुजी अपने विद्यार्थियों सहित पूज्य बापू के दर्शन करने पहुँचे। लालाजी ने जब महात्माजी से परिचय कराया तो महात्मा गांधी कहने लगे- वेद बहुत ऊँचे ग्रन्थ हैं। दुनियां में रहने का सही दंग उपनिषद् का एक मंत्र-ईशावास्यमिदं.....' ही सिखाता है।

उपनिषदों की महत्ता उनकी सार्वभौमता में है। उनका जीवन दर्शन एक सार्वभौम-धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। संसार के सभी मत मतान्तर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मनुष्य को उस

परब्रह्म की ओर प्रेरित करना चाहते हैं जो इस चराचर समस्त जगत् का मूलाधार है। किन्तु इस मार्ग का पता वही दे सकता जो स्वयं वहां तक पहुंचा हुआ हो। इसीलिये ऋषियों ने उपनिषदों में जो दिशा निर्देश किया है वह कहीं से कह सुनकर नहीं अपितु स्वयं समाधि द्वारा साक्षात्कार करके प्रस्तुत किया है।

उपनिषद् ग्रन्थों में भारतीय ऋषियों ने वेदों में प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों से अधिक सरल भाषा में इतना सुन्दर व्याख्यान दिया है कि उपनिषद् साहित्य वैदिक वाङ्मय की अमूल्य एवं अमर निधि बन गया है।

हमारी प्रगति का रूप हमारी प्राचीन सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धा के जिन आधारों पर खड़ी है उनका सूत्र मुख्य मुख्य उपनिषदों में पाया जाता है। आज जबकि अपने देश के जीवन में एक नवयुग का निर्माण करना चाहते हैं हमें अपने भीतर नवजीवन का संचार करने के लिये उपनिषदों की ओर जाना होगा। उपनिषद् में वे मूलतत्त्व छिपे हैं जिन्होंने आदि युग के उषा: काल से अब तक होकर इतिहास को ढाला है। जब-जब हमने ठोकरें खाई हैं तब तब उसका कारण हमारा उपनिषदों की शिक्षा से विमुख हो जाना रहा है। इसलिये आज की सन्तति के उद्धार के लिये उपनिषदों के तत्त्व को ग्रहण करना और उन तत्त्वों का हमारी दिन-दिन की समस्याओं के साथ जो संबंध है उसे समझ लेना भी आवश्यक होगा।

अनेक विधर्मी और विदेशी महानुभावों ने भी उपनिषदों की गंभीरता, मधुरता, तात्त्विकता पर मुग्ध हो अपने विचार व्यक्त किये हैं।

‘संसार में ऐसा कोई अध्ययन नहीं है जो उपनिषदों के समान उपयोगी तथा उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। उन्हीं से मुझे अपने जीवन में शांति मिली है और

उन्हीं से मुझे मृत्यु के समय भी आत्मिक शांति मिलेगी। एक न एक दिन उपनिषद् की शिक्षा ही मानव मात्र की शिक्षा का केन्द्र बनेगी।’

- प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक सोपनहार

‘उपनिषद् वेदान्त दर्शन के आदि स्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई मालूम होती है।’

- जर्मन दार्शनिक मैक्समूलर

उपनिषद् मनुष्य की मेधा बुद्धि का अनमोल फल है। जीवन और मृत्यु के समय, केवल दुख या कष्ट के समय पर ही नहीं अपितु प्रतिक्षण उनसे जैसी शांति मिलती है वैसी कहीं भी नहीं मिलती। भारत के मनुष्यों के पास आत्म ज्ञान और आत्म शक्ति का ऐसा कोष है जो संसार में और किसी के पास नहीं है।

- पाल डयूसन, स्वीडन

मैंने अरस्तु, सुकरात और कितने ही विद्वानों के ग्रन्थ बहुत ध्यान से पढ़े किन्तु जैसी विद्या उपनिषदों में देखी और जितनी शांति उनसे प्राप्त हुई वैसी अन्य किसी स्थान से मुझे नहीं मिली।

- मिस्टर ह्यूम

उपनिषदों के ज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएँ किस प्रकार पूर्ण हो सकती हैं। उनकी शिक्षा इतनी ऊँची और सुन्दर और ऐसे सत्य से भरपूर है जो मनुष्य के हृदय पर अंकित हो जाती है और उसे अपार आत्मिक शांति प्राप्त होती है।

- जी० आर्क एम० ए०

औरंगजेब का बड़ा भाई दाराशिकोह उपनिषदों से अत्यन्त प्रभावित था। उसने काशी के पण्डितों की सहायता से उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कराया। उसने लिखा है मैंने अध्यात्म विद्या

के अनेक ग्रन्थ पढ़े किन्तु परमात्मा की खोज की प्यास नहीं बुझी। उपनिषदों का अध्ययन आत्मा में शांति और आनन्द उत्पन्न करता है। मुझे ज्ञात हुआ कि उपनिषद् ब्रह्मज्ञान के भण्डार हैं। अतः मैं इनका फारसी में अनुवाद करूँ जिससे फारसी जानने वाले भी इस ज्ञान से लाभ प्राप्त कर सकें। राजा राममोहनराय, मैक्समूलर आदि ने उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। संसार की अनेक प्रमुख भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद हुए और भारतीय अध्यात्मवाद का व्यापक प्रभाव विश्व में सर्वत्र फैल गया क्योंकि उपनिषदें साक्षात् कामधेनु सिद्ध हुईं और जिसने भी इनमें वर्णित ब्रह्म विद्या का पान किया वह निहाल हो गया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद संहिता को स्वतः प्रमाण बताते हुए वेद को ही अन्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता की कसौटी बताया और कहा कि ऋषिकृत ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं, उनमें जो कुछ वेदानुकूल है वह प्रामाणिक और जो वेद के विरुद्ध है वह अप्रामाणिक है। इसी आधार पर लगभग 108 उपनिषदों में से केवल ग्यारह उपनिषदें ही प्रामाणिक माने गये हैं जिनका संक्षिप्त सार इस पुस्तक उपनिषद् चर्चा में प्रस्तुत किया गया है।

(१) ईशोपनिषद्

ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है। सभी उपनिषदें अध्यात्म विद्या का सुन्दर एवं विषद् वर्णन करती हैं। सब उपनिषदों में यह उपनिषद् मुकुटमणि है, उपनिषद् भवन की मानो आधार शिला है क्योंकि इस उपनिषद् में जिस अध्यात्म विद्या का वर्णन है बाद की उपनिषदों में इन्हीं शिक्षाओं का विस्तार किया गया है। इस उपनिषद् की पूँजी साथ लेकर चलने वाला व्यक्ति लोक परलोक की यात्रा सुगमता सुन्दरता से सम्पन्न कर सकेगा और अनेक मानसिक गुत्थियों को सरलता से हल करके मानव जीवन का लाभ उठाकर दूसरों को

भी लाभ दे सकेगा।

ईशोपनिषद् की महत्वपूर्ण शिक्षा है 'नैनद्देवा आप्नुवन्' अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर इन इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता। उपनिषद् इसका भी समाधान करता है और कहता है- 'वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत्' - अर्थात् विद्वान् उसको हृदय गुहा में देखता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा ब्रह्म या परमात्मा की अनुभूति कर सकता है इन्द्रियाँ नहीं।

संक्षेप में उपनिषद् के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में तीन मंत्र हैं जिन्हें हम कर्तव्य पंचक भी कह सकते हैं। इन मन्त्रों में मनुष्य को करने के लिये जिन पाँच कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है यदि मनुष्य उन कर्तव्यों को करे तो वह ब्रह्म विद्या में प्रवेश का अधिकार पा सकता है।

उपनिषद् का प्रथम भाग

पहले मन्त्र का अभिप्राय है- यह सब जो कुछ पृथ्वी पर चराचर वस्तु है वह सब ईश्वर से व्याप्त या आच्छादित है। उसी प्रभु के दिये पदार्थों का उपयोग करो किसी के भी धन का लालच न करो।

दूसरे मन्त्र का अभिप्राय है- मनुष्य इस संसार में कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। कर्मों को केवल कर्म की दृष्टि से करने वाला कर्मों में लिप्त नहीं होता। इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है।

तीसरे मन्त्र का अभिप्राय है- जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करते हैं वे मनुष्य मर कर प्रकाश रहित गहरे अंधेरे लोक अर्थात् योनियों को प्राप्त करते हैं।

उक्त तीनों मन्त्रों में मनुष्य के जिन पाँच कर्तव्यों का निर्देश किया गया है वह इस प्रकार हैं-

पहला कर्तव्य- ईश्वर को सर्वव्यापक प्रत्येक स्थान में उपस्थित मानें। ईश्वर एकदेशी नहीं वह विभु-व्यापक है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु के भीतर भी आकाश है उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् में ओत प्रोत है। कोई वस्तु जगत् में ऐसी नहीं जो ईश्वर में न हो और जिसमें ईश्वर न हो। यदि प्रभु की सर्वव्यापकता को हम जानने के साथ मानने भी लगे तो हमारे अन्दर प्रेम की मात्रा अधिक हो जायेगी तथा हम पाप करने से बच जावेंगे। सामान्यतया पाप कर्म करने के लिये एकान्त की आवश्यकता होती है किन्तु ईश्वर को सर्वव्यापक मानने पर कहीं एकान्त न मिलेगा और इस प्रकार हम दुष्कर्म करने से बच जावेंगे। हमें दुष्कर्म करते समय यही ध्यान रहेगा परमात्मा देख रहा है। हम उसकी आँखों से अपने को नहीं बचा सकते। ईश्वर की सर्वव्यापक मानने से सभी प्राणी ईश्वर के प्रतीत होंगे अतः यह अच्छूत है, निष्कृष्ट है यह भावना समाप्त हो जायेगी। सब प्रभु के पुत्र होने से बन्धु विदित होंगे अतः किसी से घृणा नहीं की जा सकेगी।

दूसरा कर्तव्य- सभी वस्तुयें ईश्वर की हैं हमें तो केवल उनके प्रयोग का ही अधिकार है। संसार के दुःख का सबसे बड़ा कारण मोह या ममत्व है। दुःख किसी प्रिय के वियोग पर या किसी वस्तु से पृथक् होने पर होता है किन्तु जब वस्तु अपनी है ही नहीं तो उसके पृथक् होने या छूटने पर दुःख क्यों होगा ? जिसकी वस्तु थी उसने ले ली। इसमें हमें क्या आपत्ति होनी चाहिये। मनुष्य जब वस्तुओं को स्वयं छोड़ देगा तो कष्ट नहीं होगा किन्तु जब वस्तु छुड़ाई जायेगी तो कष्ट होगा। जब वस्तुओं में प्रयोगाधिकार समझा जायगा तो प्रयोग के बाद उसे छोड़ने में कठिनाई न होगी किन्तु जब वस्तु को अपनी समझा जायगा तो ममता के कारण उसे छोड़ना न चाहेंगे किन्तु मृत्यु ऐसी शक्ति है जो सब कुछ छीन लेती है। ममता

का वशीभूत व्यक्ति उन्हें छोड़ना नहीं चाहता किन्तु छोड़ना तो पड़ेगा। बस छोड़ने में छिने पर कष्ट होगा ही। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य पदार्थों को प्रयोग का समय (जीवनकाल-आयु) समाप्त होने पर छोड़ देते हैं उनके पास कुछ रहता ही नहीं जिसे मृत्यु आकार छीने। उनके लिये मृत्यु दुःखद नहीं है सुखद होती है। मृत्यु संसार में सबसे बड़ा भय होती है उसे सुखद कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु यह सब ममता जोड़ने और छोड़ने से ही संभव होता है। मृत्यु तो सुखद ही होती है किन्तु जब मनुष्य ममता के आइने को सामने रखकर मृत्यु को देखता है तब उसे वह भयावनी मालूम होती है। मनुष्य का यह कोरा भ्रम है कि सांसारिक पदार्थों से ममता न जोड़ने पर उनकी रक्षा नहीं हो सकेगी।

तीसरा कर्तव्य- संसार में कोई भी कार्य शांति के अभाव में नहीं हो सकता। जब साधारण से साधारण कार्य के लिये शांति आवश्यक है तो आत्म विद्या प्राप्ति के लिये तो शांति अत्यन्त आवश्यक होगी। अशांति का मूल कारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्व (अधिकार) अपहरण होता है। जब हम किसी का अधिकार छीनते हैं या दबाते तो उसे असन्तोष होता है और वह असन्तोष ही झगड़े और फिर युद्ध तक का रूप ले लेता है। अतः उपनिषद् का प्रथम भाग तीसरे कर्तव्य के रूप में प्रेरणा देता है- 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' - किसी के धन या स्वत्व को लेने की चेष्टा न करो। जब किसी का धन या स्वत्व न छीना जायेगा उसकी स्वतन्त्रता में बाधा न पहुँचाई जायगी तो अशांति का जन्म ही न होगा और अशांति न होने से सभी कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेंगे।

चौथा कर्तव्य- मनुष्य कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे किन्तु कर्म इस प्रकार से हों जिससे वह कर्त्ता को लिप्त न करें मनुष्य उनमें फँस न जाय। मनुष्य को जीवित रहने

के लिये कर्म योग के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिये। जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई देती जो क्रिया रहित हो। सूर्य प्रतिक्षण गति में रहता है। कण-कण में गति दृष्टिगोचर होती है। जब कर्म का साम्राज्य जगत् व्यापी है तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता है। अतः मनुष्य को निरन्तर कर्म करना चाहिये। जीवन में अन्तिम क्षण तक कर्म करने में लगा रहना चाहिये।

कर्म दो प्रकार के होते हैं सकाम और निष्काम। सकाम वे कर्म होते हैं जिनके साथ फल प्राप्ति की इच्छा जुड़ी होती है और निष्काम कर्म वे होते हैं जिनमें फल की इच्छा का त्याग करके कर्म केवल कर्म के लिये ही किया जाता है। सकाम कर्म से वासना उत्पन्न होती है। मनुष्य इस वासना चक्र में फँस जाता है। योग दर्शन में इस वासनाचक्र के 6 अंग कहे गये हैं- इच्छा, उसका फल, सुख की वासना, द्वेष, उसका फल दुःख और दुःख की वासना। इस चक्र में रहने का नाम ही कर्म का मनुष्य में लिप्त हो जाना है। जो इस चक्र में नहीं फँसता निष्काम कर्म-कर्म को फल की इच्छा से रहित करता है वह सुख दुःख से पृथक् हो जाता है उसकी वासनायें भी न बनने से वासना चक्र टूट जाता है। अतः अध्यात्म जगत् में प्रवेश का अधिकारी बनने के लिये चौथा कर्तव्य है कि हम निष्काम कर्म ही करें।

पांचवा कर्तव्य- आत्मा के प्रतिकूल कोई कर्म न करें। आत्मा स्वरूप में शुद्ध पवित्र है किसी प्रकार के ईर्ष्या द्वेष आदि से लिप्त नहीं। अतः आत्मप्रेरणा के अनुकूल कर्म करना चाहिये। मनु ने आत्म प्रेरणा को धर्म का अंतिम साधन बतलाया है। जब मनुष्य कोई अच्छा काम करता है तो आत्मप्रेरणा से उसे उत्साह, प्रसन्नता प्राप्त होती है किन्तु बुरा काम करने का विचार करता है तो आत्मा

भीतर से भय, लज्जा, शंका के रूप में कार्य करने की प्रेरणा न देकर धिक्कारती है, मना करती है। किसी अच्छे कार्य को निरंतर करने से सद्अभ्यास बनता है वही चरित्र कहलाता है इसके विपरीत जब आत्म प्रेरणा के विरुद्ध बुरा काम किया जाता है तो उसका भी असद्अभ्यास बन जाता है और वह उसे आदत के बन जाने के कारण छोड़ नहीं पाता। आत्मा के अनुकूल कार्य करके चरित्र निर्माण करते हुए मनुष्य आत्म जगत् में प्रवेश पाने का अधिकारी हो जाता है।

अतः उपनिषद् का पहला भाग मनुष्य के लिए पंच कर्त्तव्य का विधान करता है जिन्हें करने पर ही कोई व्यक्ति आत्मविद्या प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

उपनिषद् का दूसरा भाग

इस भाग में पाँच मन्त्र हैं जिनका सारांश इस प्रकार है-
मन्त्र 4 का भाव-ब्रह्म अचल, एकरस, मन से अधिक वेगवान, सब जगह पहले से ही विद्यमान होता है। वह इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता। वह अचल होने पर भी दौड़ता प्रतीत होता है। उसके भीतर जल और वायु भी होती है।

मन्त्र 5 का भाव- ब्रह्म सबको गति देता है किन्तु स्वयं गति में नहीं आता। वह दूर है और समीप भी है। सब जगत् के बाहर भीतर वर्तमान है।

मन्त्र 6 का भाव- जो कोई सम्पूर्ण चराचर जगत् को परमेश्वर में ही देखता है और सम्पूर्ण चराचर जगत् में परमेश्वर को देखता है वह निन्दित नहीं होता।

सातवें मन्त्र का भाव- जिस अवस्था में विशेष ज्ञान प्राप्त योगीजन सम्पूर्ण चराचर जगत् को परमात्मा में जानते हैं वह सब भूतों में एकत्व देखने वाले होते हैं ऐसे व्यक्ति को शोक, मोह नहीं

होता।

आठवें मन्त्र का भाव- वह परमेश्वर सर्वत्र व्यापक, जगदुत्पादक, शरीर रहित, शारीरिक विकार रहित, नाड़ी-नस के बन्धन से रहित, पाप से रहित, पवित्र सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी 'सर्वोपरि वर्तमान' स्वयं सिद्ध, अनादि प्रजा के कर्मफल का उचित (न्योयोचित) विधाता है।

उक्त 5 मन्त्रों में ब्रह्म विद्या मूलक सिद्धांतों का वर्णन है। ब्रह्म विद्या प्राप्त करने का हमारा उद्देश्य अपनी इस प्रकार उन्नति करना है जिससे अन्त में ब्रह्म को प्राप्त कर लें।

ब्रह्म विद्या के सम्बन्ध में निम्न शिक्षा है-

- (1) ब्रह्म (परमेश्वर) वह विभू-व्यापक है सर्वदेशी है एक देशी नहीं। वह एकरस है। एकरस सदैव सर्वदेशी ब्रह्म ही हो सकता है। उसके एकरस होने के सम्बन्ध में उपनिषद् उसके निम्न गुण प्रदर्शित करता है-
 - (i) वह मन से भी अधिक तेज गति वाला है। जहां-जहां मन जाता है वहां वह पहले से ही पहुंचा हुआ होता है। अतः वह सर्वदेशी है।
 - (ii) वह इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियां एक देशी वस्तु को ही प्राप्त कर सकती हैं।
 - (iii) सर्वदेशी होने से वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुआ का उल्लंघन करता है।
 - (iv) उसी के अन्तर्गत वायु जलों को धारण किये हुए रहता जगत् का कोई भाग ऐसा नहीं जहां वायु न हो। जगद्-व्यापी वायु ब्रह्म के अन्तर्गत ही कार्य करता है।
 - (v) वह गति देता है किन्तु स्वयं गति में नहीं आता। ब्रह्म केवल ईक्षण भाग से बिना हरकत के (केवल वस्तु को कार्य में लगाने की इच्छा से) सृष्टि में गति उत्पन्न कर

देता है। पश्चिमी वैज्ञानिकों ने इच्छा से गति होने के सिद्धान्त को माना है। यूनान के दार्शनिक अरस्तू ने ईश्वर को Unmoved mover कह कर उपनिषद् के सिद्धान्त की पुष्टि की है।

- (vi) वह दूर भी है पास भी है वह सब जगह-सबके भीतर सबके बाहर है।
- (vii) जो मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जगत को ब्रह्म के अन्दर और ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत में देखता है वह घृणा रहित हो जाता है। इसी का नाम विश्व प्रेम है।
- (viii) ब्रह्म सर्वत्र पहुँचा हुआ है शरीर रहित और सर्वव्यापक है।

अतः उपासक को श्रद्धा और दृढ़ विश्वास होना चाहिये- ब्रह्म सर्वदेशी है, वह एक ही है, वह जगत का आदि मूल कारण है, वह शुद्ध है। अतः ब्रह्म की समीपता प्राप्ति हेतु उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा, निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये। वह अपापविद्ध है- मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिये विपरीत ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिये। वह कवि, क्राँतदर्शी, सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ है, वह पूर्ण ज्ञानी है, वह स्वयंभू बिना किसी दूसरे की सहायता अपनी सत्ता से अपने गुण प्रकट करता है। वह जीवन के कर्मों का ठीक-ठीक फल प्रदाता है। उपनिषद् के अनुसार मनुष्य को उक्त गुणों को अपने अन्तःकरण में धारण कर लेना चाहिये। इस हेतु मानसिक जप करना होगा। तब आत्मा इन ईश्वरीय गुणों से भासित होता है इससे गुण वृद्धि होती है। इससे आगे चलकर ब्रह्म हृदय में धारण हो सकेगा। इसके लिये संध्या करनी होगी। संध्या से निम्न योग्यतायें प्राप्त होंगी-

- (1) शारीरिक उन्नति। इन्द्रियां बलवान्, पवित्र, सन्मार्गगामी और यशवाली होंगी।
- (2) मानसिक उन्नति। 'हृदय' द्वेष से रहित होगा। प्राणायाम के

द्वारा प्रत्याहार (शक्ति को केन्द्रित करना) की प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न होगी।

- (3) आत्मिक-उन्नति। ब्रह्म को हृदय में धारण करने का अभ्यास होगा। संध्या से मनुष्य का हृदय ईश्वरीय गुणों के आलोक से प्रकाशित होता है और उसमें विश्व प्रेम की भावना बढ़ती है। स्मृति का विकास होता है।

जिस अवस्था में समस्त चराचर जगत को योगी परमेश्वर हुआ ही जानने लगता है तब ऐसे एकत्व का देखने वाला योगी मोह और शोक से छूट जाता है।

जीवात्मा को परमात्मा की अनुभूति का प्रारम्भ तभी से माना जाता है जब उसे वह सर्वत्र अनुभव करने लगता है। उसका आत्म विश्वास बढ़ जाता है तथा न्यायाधीश प्रभु सदैव सामने अनुभव करने से वह अपराध नहीं करता।

परमात्मा दूर से दूर और समीप से समीप है। यह विरोधाभास विचार करने पर समाप्त हो जाता है। अज्ञान के कारण मनुष्य समीपस्थ वस्तु को भी नहीं देख पाता। परमेश्वर के निकटतम होते हुए भी मनुष्य अज्ञान के कारण उसे देख नहीं पाता इसलिये अज्ञानी को वह दूर से दूर है। ज्ञानी की दृष्टि से वह समीप से समीप है क्योंकि परमात्मा हर वस्तु में विद्यमान होने से हमारे हृदय में भी है और ब्रह्माण्ड के साथ वह इस पिण्ड को भी चला रहा है। जो व्यक्ति अपने स्वरूप को भूलकर आत्मा की उपेक्षा करके भौतिक सुखों के पीछे भागते हैं वह ईश्वर से दूर हो जाते हैं।

जो प्रभु को सर्वव्यापक मानकर चलता है वह प्राणिमात्र में प्रभु का दर्शन करता है उसके लिये कोई पराया नहीं होता। वह किसी से घृणा नहीं करता जिससे कोई घृणा करेगा निश्चय ही वह उसमें ईश्वर का अभाव मानेगा। इस प्रकार घृणा भी नास्तिकता से उत्पन्न होती है। जो मनुष्य सर्वात्मभाव का अभ्यस्त हो जाता है वह न किसी

से घृणा करता है और न स्वयं किसी से निन्दित ही होता है। जिस प्रकार डाक्टर रोगी से घृणा नहीं करता उसी प्रकार महात्मा अन्तःकरण के रोगियों से घृणा नहीं करता। इसका दृष्टिकोण यही रहता है पाप से घृणा करनी चाहिये पापी से नहीं। पापी को तो वह अपने सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार से उसके उपचार की व्यवस्था करता है।

अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग, वर्ग, वर्ण या देश का बन्धन नहीं। अस्तु जो कोई समस्त प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में समस्त प्राणियों को देखने की दृष्टि प्राप्त कर अपनी कथनी करनी में समत्व की भावना जागृत कर लेता है वह सभी के आदर का पात्र होता है और अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है।

जैसा मेरा आत्मा है वैसा ही दूसरे का आत्मा है यह समझना ही परोपकार धर्म का मूल तत्व है। हम दूसरों से अपने साथ जैसा व्यवहार पसन्द नहीं करते वैसा व्यवहार हमें दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये। हम स्वयं जीवित रहें तो दूसरों को भी जीवित रहने दें, उन्हें भी तो जीवित रहने का अधिकार है। यह तभी संभव होगा जब हम जानें कि हमारे शरीर में जैसा आत्मा है वैसा ही दूसरे के शरीर में भी है। प्राणिमात्र में आत्मानुभूति की भावना की व्यवहार नीति इस उपनिषद् से प्राप्त होती है। उपनिषद् पारस्परिक व्यवहार के विषय में आत्मौपम्य बुद्धि को उत्पन्न कर दे तो सभी सामाजिक समस्याएँ हल हो जायेंगी और हम मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

मोह का मूल आसक्ति होती है। जहाँ आसक्ति नहीं वहाँ मोह नहीं। जहाँ मोह नहीं वहाँ सुख दुःख की भावना नहीं। जहाँ सुख दुःख की भावना नहीं वहाँ राग द्वेष नहीं। मोह वासना से होता है। निष्काम कर्म की भावना से वासना स्वतः नष्ट हो जाती है। वासना के अभाव में मोह शोक रहते नहीं और इसी जन्म में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सहज सरल हो जाती है अतः उपनिषद् कहता है जो मनुष्य

अपने आपको मानव समाज का अंग मानता है वह किसी से द्वेष नहीं करता और सब भूतों के साथ मैत्री का व्यवहार करता है। वह ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित, सुख दुःख में समान होता है।

परमात्मा के सहस्र सिर, पैर, आँख, कान आदि का कथन उसके अनन्त ज्ञान और शक्ति का द्योतक है। देह और इन्द्रियों के न होने पर भी वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होने वाले समस्त कार्य, सर्वान्तर्यामी होने के कारण अपने सामर्थ्य से करता है। इन्द्रियों की आवश्यकता जैसे अपने से बाहर के कार्य के लिये पड़ती है मन ही मन बात करने के लिये नहीं। ठीक उसी प्रकार परमात्मा सबके अन्दर बाहर ओत प्रोत है इसलिये उसे अपने से बाहर कुछ भी क्रिया नहीं करनी पड़ती।

परमात्मा अत्यन्त शुद्ध, निर्मल पवित्र है। उसमें न शरीरी विकार है न मानव विकार। वह स्वयं प्रकाश है और दूसरों को प्रकाश देता है। सूर्यचन्द्र अग्नि सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। जिन्हें प्रभु की ज्योति का दर्शन हो जाता है, प्रकाश मिल जाता है सागान्य व्यक्ति उन्हें भी प्रकाशयुक्त भगवान् (ऐश्वर्यवान्) समझने लगते हैं।

जीव की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और वह कार्य करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। संसार में जितना पाप है वह सब जीवकृत है। उसके होते हुए भी ईश्वर अपापविद्ध है। यदि ब्रह्म को जीव रूप मान लेंगे तो पाप का अत्तरदायित्व भी ब्रह्म पर होने से वह अपापविद्ध न रह सकेगा। वेद में अनेक मन्त्रों में प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा गया है प्रभो आप पवित्र हैं हमें भी अपनी निर्दोष रक्षण आदि क्रियाओं से पवित्र बना कर ऐश्वर्य प्रदान करें।

परमात्मा सृष्टि के आदि में वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा है इसलिये वह कवि कहाता है। वह अतीत अनागत का ज्ञाता होने से सर्वदृष्टा और कवि कहलाता है। परमात्मा प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जिस प्रकार जानता है उस प्रकार अन्य कोई नहीं जानता। वह

भूत, भविष्यत् वर्तमान को जानने वाला होने से त्रिकालदर्शी भी कहलाता है। परमात्मा का महाकाव्य वेद न कभी मरता है न नष्ट होता है और न जीर्ण ही होता है। मानव का ज्ञान अज्ञान मिश्रित होने से निर्भ्रान्त नहीं हो सकता किन्तु परमात्मा की रचना वेद ऋषियों की आत्मा से सीधे निर्भ्रान्त परमेश्वर की प्रेरणा से प्राप्त और बुद्धिपूर्वक होने के कारण दोषों से सर्वथा मुक्त है।

परमेश्वर मनीषी-पूर्ण ज्ञानी और सबका प्रेरक है। संसार की रचना को देखकर उसकी मनीषा का अनुमान लगाया जा सकता है। वृक्ष का पत्ता पत्ता उसके रहस्य को बता रहा है। मनुष्य के शरीर की रचना उसकी विलक्षण प्रतिभा का सबसे सुन्दर उदाहरण है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब शरीर पिण्ड में भी विद्यमान है। बड़ी से बड़ी वस्तु से लेकर छोटी से छोटी वस्तु में पाई जाई जाने वाली विचित्र व्यवस्था एवं नियमबद्धता प्रभु की मनीषा का परिणाम है।

परमात्मा स्वयंभू है। अपनी सत्ता या अस्तित्व के लिये उसे किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार ईशोपनिषद् के द्वितीय भाग के चार मन्त्रों में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है।

उपनिषद् का तीसरा भाग

उपनिषद् के तीसरे भाग में 8 मन्त्र हैं। इनमें मनुष्य को भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान के समन्वय करने का विधान किया गया है। हम किस प्रकार ब्रह्म विद्या को प्राप्त करें इस सम्बन्ध में उच्चकोटि का ज्ञान प्रदान किया गया है।

मन्त्र 9 का भाव- जो प्रकृति विद्या अथवा कर्म (भौतिकवाद) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जो केवल ब्रह्मविद्या में लीन रहते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

मन्त्र 10 का भाव- केवल ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञान मात्र से प्राप्त होने वाला फल कुछ और होता है। केवल प्रकृति-विद्या अथवा कर्म से मिलने वाला फल कुछ और होता है। ऐसा विद्वान् लोग बताते हैं।

मन्त्र 11 का भाव- आत्मविद्या (ज्ञान) प्रकृति विद्या (कर्म) इन दोनों को जो साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत-मोक्ष को प्राप्त करता है।

यहाँ विद्या अविद्या का अर्थ सामान्य अर्थ नहीं होगा। उपनिषत्कार का अभिप्राय अविद्या से भौतिकवाद और विद्या से अध्यात्मवाद है। प्राकृत जगत् के जिस ज्ञान को आजकल विज्ञान (साइंस) कहते हैं उपनिषद् में वही अविद्या है और जो आध्यात्मिक ज्ञान या तत्त्वज्ञान है वही विद्या या दर्शन कहा जाता है। ये दोनों अधूरे हैं। अकेला कोई भी पक्ष मनुष्य को सुखी करने में असमर्थ है। जो भौतिक जगत् के उपासक हैं अर्थात् प्रकृति में लिप्त हैं वे अविद्याजन्य दुःखों को पाते हैं अंधेरे में हैं किन्तु जो केवल अध्यात्म विद्या में मग्न रहते हैं वे प्रकृति के उपासकों से भी अधिक दुःखी होते हैं।

अविद्या के उपासक प्रकृति से सुख पाने की आशा में भटकते रहते हैं किन्तु सुखी नहीं होते। इच्छायें भोग करने से तृप्त नहीं होती अपितु बढ़ती हैं और पर्याप्त समय बीतने पर अनुभव होता है कि मनुष्य विषयों को नहीं भोगता अपितु विषय ही मनुष्य को भोगते हैं। दूसरी ओर कोरे आत्मज्ञान या आत्मविद्या से भी सुख नहीं मिल सकता क्योंकि पाँच-भौतिक शरीर भौतिक पदार्थों के बिना कैसे रह सकता है ? शरीर की उपेक्षा नहीं की जा सकती उसकी आवश्यकतायें तो पूर्ण करनी पड़ेंगी ही।

विद्या अविद्या से होने वाले फल भिन्न-भिन्न होते हैं। भौतिकवाद का मार्ग सुन्दर और आकर्षक है इसलिये यह प्रेय मार्ग कहलाता है। अध्यात्मवाद का मार्ग वैसा आकर्षक नहीं। उसे कंटीला और उस पर चलना उस्तरे की धार पर चलना जैसा तीक्ष्ण बताया गया

है। इसे ही श्रेय या श्रेष्ठ मार्ग कहा गया है, यह सांसारिक सुख अल्प सुख है। कुछ काल तक रहने वाला है। इसके विपरीत आध्यात्मिक भू मा- सदा रहने वाला तथा परमात्मा से नाता जोड़ने वाला होता है।

विद्या, अविद्या एक दूसरे के पूरक हैं। विद्या और अविद्या आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ज्ञान समान रूप से उपयोगी हैं। विज्ञान ने प्रकृति को मनुष्य के लिये अत्यन्त सुन्दर और सुखद बना दिया है किन्तु इस आश्चर्यजनक भौतिक उपलब्धि से भी वह सुखी नहीं। भीतर खोखला सा अनुभव करता है। वह सब कुछ पाकर भी दुःखी है। किन्तु विद्या से प्राप्त ब्रह्मज्ञान से सर्वथा शून्य संसार के जंजाल से ऊपर नहीं उठ पाता। यथार्थ ज्ञान वह है जिसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्या का सम्मिश्रण हो। दोनों के समन्वय से ही पूर्ण सुख प्राप्त हो सकता है। प्रकृति विद्या शरीर के लिये आवश्यक भौतिक वस्तुओं की कमी नहीं होने देती और आत्म विद्या उनके अनुचित एवं मात्रा से अधिक प्रयोग कर अंकुश रखती है।

प्रेय मार्ग का पथिक विषय भोग की दृष्टि से केवल भौतिक या लौकिक उन्नति का ध्येय बनाता है तथा श्रेय (कल्याण) की चिन्ता नहीं करता वह जन्म मरण के बन्धन में फँसा रहता है। विवेकी पुरुष अविद्या-भौतिक ज्ञान के द्वारा शरीर साधन को सुरक्षित, सुदृढ़, स्वस्थ रखता जीवन के ध्येय आत्मज्ञान को प्राप्त कर अमर पद पा लेता है।

ज्ञान और कर्म के समन्वय का सिद्धान्त शाश्वत् है। ज्ञान उपलब्ध करके उसे कर्म में परिणत करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। उपनिषद् इन दोनों के समन्वय का मार्ग बताता है। केवल ज्ञान साधन हीन लंगड़े के समान और केवल कर्म जड़ होने से अन्धे के समान है। ये दोनों मिलकर काम कर सकते हैं अलग-अलग नहीं।

मन्त्र 12 का भाव- जो मनुष्य सत्त्व, रजस् तमस् गुण वाली प्रकृति अथवा व्यष्टि की उपासना करते हैं वे गहरे अन्धकार में चले

जाते हैं। जो विकारमय सृष्टि अथवा समष्टि में रमे रहते हैं वे और अधिक गहरे अन्धकार में गिरते हैं।

मन्त्र 13 का भाव- कार्य प्रकृति-सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से और ही फल कहते हैं, कारण प्रकृति-कारण शरीर से और ही फल कहते हैं। इस प्रकार वीर पुरुषों के वचन हम सुनते हैं जो हमारे उपदेश के लिये उन्होंने किये थे।

मन्त्र 14 का भाव- जो कोई कार्य रूप प्रकृति=सूक्ष्म स्थूल शरीर और कारण रूप प्रकृति=कारण शरीर इन दोनों को साथ साथ जानता है वह कारण शरीर से मृत्यु को तैर कर कार्य शरीर से अमरता को प्राप्त हो जाता है।

इन मन्त्रों का मुख्य विषय सम्भूति और असम्भूति का ज्ञान है। सम्भूति कार्य प्रकृति और असम्भूति कारण रूप प्रकृति को कहते हैं। जगत में व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण शरीर है। कार्य शरीर दो हैं- सूक्ष्म और स्थूल।

स्थूल शरीर-सूक्ष्म शरीर का साधन है। उसी के द्वारा विषयमय जगत से सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध होता है। इसके विकसित और पुष्ट होने से शारीरिक उन्नति होती है।

सूक्ष्म शरीर- 5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 सूक्ष्म विषय- तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध) 5 प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) 1 मन, 1 बुद्धि, अहंकार। इनका समुदाय सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इसके विकसित और पुष्ट होने से मानसिक उन्नति होती है।

कारण शरीर-यह भावना प्रधान होता है। यह प्रेरणा और उमंगों का उद्गम केन्द्र होता है। इसके विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य में ईश प्रेम आता है। वह भक्त और योगी बन जाता है। स्नेह, सद्भाव, भाव संवेदनायें ही मानव की विशिष्टता होती हैं।

तीनों प्रकार के शरीर उन्नत होने चाहिये। मानवीय काया में

तीनों शरीर परस्पर एक साथ गुंथे हुए हैं। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना तक नहीं की जा सकती। स्थूल शरीर से व्यवहार, सूक्ष्म शरीर से चिन्तन मनन और कारण शरीर से चरित्र का निर्माण होता है। यदि सूक्ष्म शरीर की उपेक्षा करके केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हैं तो अन्धकार में पड़ना होगा क्योंकि बिना स्थूल और सूक्ष्म शरीर के उन्नत हुए उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। यदि कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर- (स्थूल और सूक्ष्म) को उन्नत करना चाहते हैं तो भी भविष्य अन्धकारमय ही होगा।

दूसरे अर्थ में व्यक्ति की तुलना में समाज को महत्व देना सम्भूति है और व्यक्ति को अधिक महत्व देना असम्भूति है। जो व्यक्ति व्यक्तिवाद की उपासना करते हैं, केवल निज स्वार्थ में रहते हैं नैतिकता से दूर अन्धकार में भटकते हैं। जो व्यक्ति व्यक्ति की नितान्त उपेक्षा करके समाजहित की बात करते हैं वह समाजवादी व्यक्तिवादी से भी अधिक घने अन्धकार में गिरते हैं, क्योंकि व्यक्ति की उपेक्षा करके समष्टि का हित साधन नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति से ही समाज बनता है। इस प्रकार सम्भूति और असम्भूति दोनों अकेले अन्धेरे में धकेलते हैं जबकि दोनों का समन्वय हर प्रकार के सुख की स्थिति में पहुंचाने वाला है।

मृत्यु से पार होना न केवल ज्ञान का परिणाम है न केवल कर्म का। ज्ञान और कर्म दोनों के मेल से ही यह बन्धन छूटता है। ज्ञान और कर्म के मेल से हमें शांति प्राप्त होती है, किन्तु आनन्द की प्राप्ति परमात्मा की दया से होती है। मनुष्य जब तक यत्न करके अपने को थका नहीं डालता तब तक ईश्वर की दया का पात्र नहीं होता। उसका यत्न कर्म और ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने से पूरा होता है।

ईश्वर न्यायकारी और दयालु, आनन्दस्वरूप है इन गुणों के साथ की गई सगुणोपासना से मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है।

ईश्वर एक सबको वश में रखने वाला सर्वव्यापक, एकरूप वाली प्रकृति को अनेक रूप बना देने वाला है। उसका जो धीर पुरुष आत्मस्थ होकर साक्षात् करता है वही चिर स्थायी सुख (आनन्द) को प्राप्त हो सकता है। यह आनन्द सगुणोपासना से मिलता है।

जब ईश्वर अजर, अमर, अनादि, अनन्त है इन गुणों से उसकी धारणा की जाती है तो निर्गुणता आ जाती है। उसकी निर्गुणता का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है और आनन्द प्राप्त करता है। यही निर्गुण सगुणोपासना का रहस्य है।

मन्त्र 15 का भाव- हे पूषन पोषक भगवन ! सत्य ब्रह्म या यथार्थज्ञान का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है। पालक प्रभो कृपया आप यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये उस आवरण को हटा दें।

कर्तव्य पालन में सच्चाई होनी चाहिये किन्तु उसे छिपाने के लिये संसार की चमक वाली चीजें प्रलोभन हैं जो उसे सत्य के पथ से विमुख कर देती हैं। चोरी, धोखा, ठगी, झूठी गवाही आदि समस्त दोष धन के लालच से ही हमें दबा देते हैं।

सत्यता का ही दूसरा नाम धर्म है। सत्य और धर्म दोनों एक ही हैं। ब्रह्म को भी सत्यम् कहा गया है। ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु सत्य आवरण रहित रहनी चाहिये। अतः उस पर स्वर्णमय पात्रों का आवरण न पड़ने दें तभी मनुष्य अपने पालन करने और उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल मनोरथ हो सकता है।

वह व्यक्ति उस परम आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता है जो मन, वचन, कर्म से सत्य को प्रश्रय नहीं देता है। असद् व्यवहार, विषयासक्ति, मिथ्याज्ञान आदि के होते हुए कोई ब्रह्म को नहीं जान सकता। धन दौलत के समान ही पद-प्रतिष्ठा, मान मर्यादा कीर्ति यश भी रमणीय होने से हिरण्मय पात्र सिद्ध होते हैं। अतः आत्मज्ञानी और ब्रह्मज्ञानी को इनसे भी बचना चाहिये। इसीलिये सन्यासी को

वित्तेषणा और लोकेषणा दोनों का ही परित्याग करना होता है। यह हिरण्मय पात्र विभिन्न रूप में सत्य को ढके रहता है। जब तक यह ढकना नहीं उठ जाता तब तक मनुष्य यथार्थ ज्ञान को न जानने से अंधेरे में ही भटकता रहता है।

यदि ईश्वर के प्रति आस्था न हो और त्यागमय जीवन का विवेक न हो तो धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा के बढ़ने पर अहंकार बढ़ जाता है और वित्तेषणा तथा लोकेषणा उसका पोषण करती हैं। अहंकार में अन्धा होने पर सत्यासत्य का विवेक जाता रहता है।

सुखी सम्पन्न धनी कहे जाने वाले मुद्राराक्षस (पैसे की प्रचुरता) की करामात से सत्य को जानने का अवसर ही नहीं प्राप्त करते। अतः वह सत्य से इतने दूर चले जाते हैं कि उन्हें जीवन भर सत्य का दर्शन नहीं होता। वह यथार्थ को नहीं जान पाते। अतः अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र समझते रहते हैं और उनकी आन्तरिक सम्पदा क्षीण होती रहती है।

हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख कैसे ढका हुआ है इसके लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है— सब प्रकार के साँसारिक सुखों को त्यागकर सीता पंचवटी की कुटिया में तपस्वी जीवन बिता रही थी किन्तु सोने का मृग देखते ही उसकी बुद्धि ठिकाने पर न रही, विवेक जाता रहा और हिरण के स्वर्णमय रूप ने मारीच के राक्षस रूप को तिरोहित कर दिया और मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम भी उसे मारने को जाने के लिये विवश हो गये। स्वर्णमय पात्र से ढके सत्य (यथार्थ) को न जानने से उनकी क्या गति हुई यह सारा संसार जानता है।

अतः मन्त्र में अत्यन्त सुन्दर प्रार्थना की गई है— हे पालक पोषक प्रभो तू मेरे इस विघ्न को दूर कर दे जिससे मैं यथार्थ (सत्य) को जानकर कल्याण मार्ग का पथिक बन सकूँ किन्तु मात्र प्रार्थना से काम नहीं चलेगा। इसके लिए प्रयास भी करना होगा। जो

स्वावलम्बी पुरुषार्थी होता है प्रभु का उसी को सहारा मिलता है। इसलिये हमें हिरण्मय पात्र को उठाने का यत्न करना होगा किन्तु जब तक हम ईश्वराभिमुख नहीं होंगे तब तक (आवरण) ढकना आसानी से न उठ सकेगा और न सत्य के ही दर्शन हो सकेंगे। इसीलिये यहाँ प्रभु से प्रार्थना करने की आवश्यकता उपनिषद् में बतलाई गई है।

मन्त्र 16 का भाव- हे सर्व पोषक अद्वितीय, न्यायकारी, प्रकाशस्वरूप प्रजापालक प्रभो ताप को दूर कीजिये और सुखप्रद तेज को प्राप्त कराइये, जो आपका अत्यन्त कल्याणकारी रूप है उसे तथा एक एक प्राणी में सर्वव्यापक परमात्मा है उसे मैं देख सकूँ। जीव सत्चित है परमेश्वर सत् चित आनन्द (सच्चिदानन्द) है। यहाँ मन्त्र में यही कर्त्तव्य निर्दिष्ट है कि हम ईश्वर के गुणों को अपने में धारण कर सच्चिदानन्द जैसे बनें।

स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों का पोषण पूषन (परमात्मा) से होता है। जब मनुष्य के हृदय में यह बात अंकित हो जाती है कि संसार का पोषण करने वाला परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है तो वह पोषण सम्बन्धी सभी बन्धनों और उनके कारण पैदा होने वाले विकारों से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा सर्वोत्कृष्ट दृष्टा व ज्ञाता है। जिससे अधिक ज्ञान हो नहीं सकता वही ईश्वर है। ज्ञान का आदि मूल होने से वह आदि गुरु, व्यापक एवं सर्वज्ञ होने से वह ऋषि कहलाता है।

सृष्टि के कण-कण में व्याप्त होकर समस्त चराचर पदार्थों का नियमन करने के कारण परमेश्वर को यम कहते हैं। ईश्वर के बनाये नियम निष्पक्ष भाव से सर्वत्र, सब पर लागू होते हैं। स्वयं परमात्मा अपने नियमों का पालन करता है। उसके नियमों में कभी संशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं होता। मनुष्यकृत नियमों की यह गति नहीं होती।

परमात्मा केवल प्रजापति राजा ही नहीं अपितु वह राजाओं का भी राजा है। वह प्रजापति जड़ चेतन के भीतर बाहर अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है। वह जगत् को उत्पन्न कर स्वयं अजन्मा है उसे धीर जन ध्यान से देखते और जन्म मरण के कारण से मुक्त हो जाते हैं।

संसार के समस्त जीवन का, सब प्रकार की चेष्टा, गति, क्रिया तथा शक्ति का केन्द्र सूर्य है। सूर्य एक नहीं अनेक हैं और उनके सौरमण्डल भी हैं। किन्तु ये बाह्य सूर्य स्वयं प्रकाश नहीं हैं। उनमें प्रकाश ब्रह्म (परमात्मा) का ही है। सूर्य ब्रह्म का जीता जागता प्रतीक है। इस स्थूल प्रतीक रूप सूर्य की शक्ति का यथेष्ट ज्ञान मनुष्य से नहीं हो सका है। आन्तर सूर्य का तो कहना ही क्या है ? सूर्य के रूप में परमात्मा चराचर जगत् का आत्मा है। सबको जीवन देने वाला है।

परमेश्वर की उपासना करने, उसका सानिध्य प्राप्त करने के लिये परमात्मा के गुणों को आत्मसात करने की आवश्यकता है। इस मन्त्र में कर्तव्य बोध कराया गया है कि परमेश्वर को चाहने वालों को पूषन परमात्मा के समान प्राणिमात्र का पोषक बनना चाहिये। यम के समान न्यायप्रिय होकर किसी के प्रति पक्षपात या अत्याचार नहीं करना चाहिये। सूर्य के समान अन्तःकरण के अज्ञानान्धकार को मिटा कर ज्ञान और सत्य के प्रकाश से विश्व को आलोकित करना चाहिये। प्रजापति के समान अपने सब आश्रितों की रक्षा करनी चाहिए। ऐसा बनकर ही कोई प्रभु का प्यारा और जगत् से न्यारा बन सकता है।

ब्रह्म अनन्त तेजोमय है। हिरण्मय पात्र हटने से जीवात्मा उसके अपरिमित तेज को देखकर घबरा जाता है और प्रभु से अनुरोध करता है- हे तेजोमय प्रभु ! अपनी इन किरणों को समेटो जिससे मैं आपके मधुर रूप का दर्शन कर सकूँ।

मन्त्र 17 का भाव- शरीर में आने जाने वाला जीव अमर है।

परन्तु यह शरीर केवल भस्म न होने तक है। इसलिये अन्त समय में हे जीव तू ओइम् का स्मरण कर। बल प्राप्ति के लिये स्मरण कर और अपने किये हुए का स्मरण कर। यह मन्त्र एक प्रकार की परीक्षा का मन्त्र है।

मनुष्य का जीवन दो भागों में विभक्त होता है। एक भाग में उसे कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। जब यह पहला भाग समाप्त होता है तो दूसरा भाग वह होता है जब वह मृत्यु शैया पर पड़ा होता है। इस दूसरे भाग में उसकी सब स्वतन्त्रता छिन जाती है। मनुष्य जीवन के पहले भाग में जो कर्म करता है उसका एक प्रतिबिम्ब (चित्र) उसके समक्ष खिंचा होता है।

जीव का स्वभाव गतिशीलता है और वायु भी गतिशील होती है अतः यह दोनों पर्यायवाची हैं। शरीर से आत्मा का निकल जाना या प्राणवायु का निकल जाना एक ही बात है। स्थूल देह पाञ्च भौतिक है नश्वर है, भस्म स्वरूप परिणाम वाला है किन्तु जीवात्मा अमृत या अविनाशी है। यह ज्ञान हमें सावधान करता है कि जिसको साथ नहीं जाना, भस्म यहीं होना है ऐसे नाशवान शरीर के पोषण और सजाने के लिए पाप करके आत्म हनन क्यों करते हो ?

ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों अमृत हैं नित्य हैं। तीनों की अमरता का स्वरूप भिन्न है। प्रकृति अमर है किन्तु दिन रात बदलती रहती है! जीवात्मा अमर है किन्तु एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने से उनके मरने जीने का भ्रम होता है। आत्मा का शरीर से संयोग जन्म और वियोग मृत्यु कहलाता है।

मृत्यु निश्चित आनी है। उसके आने पर शरीर का वायु निकलकर विश्व के प्राण में विलीन हो जायगा क्योंकि विश्व की प्राणशक्ति शरीर में काम कर रही है। मृत्यु के समय पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये सभी अपने मूल में विलीन हो जाते हैं।

शरीर के भस्म हो जाने पर जो अमर है आत्मा वही बचा रहता

है। उसके साथ उसके कर्म ही जाते हैं। इसलिये उपनिषद् में इन संस्कारों को जन्म देने वाले कर्मों को स्मरण करने का निर्देश दिया गया है। प्रभु का स्मरण करने की शिक्षा इसलिये ही है कि प्रभु का स्मरण नश्वर शरीर के लिये किये जाने वाले कर्मों की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है। अन्त समय में प्रभु स्मरण और कृत कर्मों का चिन्तन बड़ा उपयोगी होता है। मनुष्य जिस प्रकार के विचारों को अन्त समय अपने मन में लाता है दूसरे जन्म में उन्हीं संस्कारों के साथ उत्पन्न होता है।

अन्तिम 18 वे मन्त्र का अभिप्राय-हे अग्निस्वरूप परमेश्वर! धन तथा सब प्रकार के भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये हमें सन्मार्ग पर ले चलिए। हे दिव्य गुणों के स्वामी हमारे समस्त कर्मों को आप जानते हैं। हमसे कुटिलता, पापों को दूर भगा दीजिये। हम आपके प्रति नमन करते हैं। इस अन्तिम मन्त्र में प्रार्थना के साथ उपनिषद् समाप्त होता है। मन्त्र में जो प्रार्थना की गई है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है-

प्रभो ! आप अग्नि-आगे ले जाने वाले हैं, मनुष्य को अवनति के गढ़े में गिरने से बचाकर शुभ मार्ग पर ले जाने वाले अग्रणी हैं। आप प्रकाशस्वरूप ज्ञान के अगाध सागर हैं। हमारा पथ प्रदर्शन-मार्ग दर्शन कर ज्ञान प्रकाश के रास्ते ले चलने वाले हैं। ज्ञान का मार्ग प्रकाश का मार्ग है। अन्धकार में जैसे भटकना पड़ता है वैसे ही अज्ञान के अन्धकार में जीवन लक्ष्य भूला रहता है। इसीलिए कहा है ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। शरीर सुन्दर है किन्तु सुबुद्धि नहीं, ज्ञान का प्रकाश नहीं तो सब सुन्दरता व्यर्थ है।

शरीर का वास्तविक मूल्य सदबुद्धि और सद्ज्ञान से ही है। इस दिव्य रथ की बुद्धि सारथी (कोचवान) है किन्तु वह विषयों में फँसकर कुमार्ग पर ले जाती है। इसलिये प्रभो ! आपसे प्रार्थना है आप इस रथ के सारथि बनें और इसे ठीक मार्ग पर चलायें।

मानव जीवन का लक्ष्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति है। हम ऐश्वर्य तो प्राप्त करें किन्तु सुमार्ग पर चल कर। धन बुरी चीज नहीं हम धन कमायें किन्तु वह धर्मयुक्त, नीतियुक्त मार्ग से ही कमायें। हम धन के पति स्वामी बनें उसके आज्ञानुवर्ती न बनें वह हमारा स्वामी न बन जाय। अतः हम मार्ग से भटक न जायें। हमें सुपथ पर चलने की शक्ति प्रदान करें।

प्रभो ! आप सबके सब कर्मों को जानते हैं। दो व्यक्ति गुप्त मंत्रणा करते हैं आप सर्वान्तर्यामी होकर वरुण रूप तीसरे होकर उनकी उस गुप्त मंत्रणा को भी जानते हैं। हमारी कोई बात आपसे नहीं छिप सकती। यदि मनुष्य प्रभु की इस सर्वव्यापकता को जान ले तो जीवन में कभी पाप कर्म दुष्कर्म में लिप्त नहीं हो सकता क्योंकि पाप करने के लिये एकान्त की आवश्यकता होती है। प्रभु की सर्वव्यापकता का भान होने पर एकान्त मिलना संभव ही न होगा। पाप ही प्रभु दर्शन में बाधक है। कुटिलता ही मनुष्य को नीचे गिराती है। अतः प्रभु से प्रार्थना की गई है कि वह हमें कुटिलता से बचाये। बिना प्रभु के मार्गदर्शन के हम पाप पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते।

इस कामना के साथ बारम्बार प्रभु की स्तुति करते हुए कहा गया है प्रभो संसार के सब पदार्थ तो आपके ही हैं। मैं क्या भेंट करूँ? मैं तो अपने आपको ही आपके लिए अर्पित कर सकता हूँ। वस्तुतः प्रभु समर्पण की भावना ही हमारे अन्तःकरण के कुटिलतादि पापों को दूर भगाकर हमें ज्ञान-प्रकाश के सदमार्ग पर चला सकेगी।

इस प्रकार यह ईशोपनिषद् यजुर्वेद के अध्याय 40 के 18 मन्त्र मात्र से मानव जीवन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है।



(२) केनोपनिषद्

पहले मन्त्र का पहला शब्द केन अर्थात् किसके द्वारा होने से इस उपनिषद् को केनोपनिषद् कहा गया है। इस उपनिषद् में बताया गया है कि मन, इन्द्रिय और प्राणों का नियन्त्रण करने वाला कौन है ? यह उपदेश मनुष्य के मिथ्या ज्ञान को दूर करने में बड़ा लाभदायक है। मन, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि ब्रह्म नहीं हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने व्यापार में परमात्मा की सहायता के अधीन है। बिना परमात्मा की सहायता के वह काम नहीं कर सकती। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जीवात्मा तो स्वतन्त्र है फिर प्रत्येक इन्द्रिय परमात्मा की सहायता बिना कार्य नहीं कर सकती तो जीवात्मा परतन्त्र होता है। वास्तव में जीवात्मा स्वतन्त्र है किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा रखती है जैसे आँख प्रकाश के बिना नहीं देख सकती। प्रकाश सूर्य से मिलता है। सूर्य को प्रकाश ईश्वर देता है। अतः इन्द्रियाँ बिना परमात्मा की सहायता के कोई कर्म नहीं कर सकतीं। सूर्य के प्रकाश होने पर मनुष्य पाप व शुभ कर्म दोनों कर सकता है किन्तु मनुष्यों के कर्मों का उत्तरदायी सूर्य नहीं। ईश्वर ने तो यथाक्रम सृष्टि को उत्पन्न किया और आरम्भ में वेदों का ज्ञान देकर भले बुरे का ज्ञान करा दिया। अब जीव स्वतन्त्र है कैसा भी काम करे। वह जैसा कर्म करेगा वैसा ही फल पावेगा।

ब्रह्म भौतिक पदार्थ नहीं अतः इन्द्रियों से उसका ज्ञान किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। उसे जानने का उपाय प्रतिबोध है। इन्द्रियों द्वारा जब बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है तो वह बोध कहलाता है। जब ये इन्द्रियाँ बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख हो आत्मा के अधीन होती हैं तब प्रतिबोध होता है। वह परमात्मा जो ज्ञानी और कर्मकाण्डी मनुष्यों की दृष्टि से सर्वत्र प्रत्यक्ष है उसे अज्ञानी मनुष्य नहीं जान सकते।

पंचभूतों में अभिमान आ गया कि वे ही शक्तियुक्त हैं। उनके समक्ष यक्ष (पूजनीय ब्रह्म) आया। उन्होंने नहीं पहचाना। उसने पंचभूतों

के समक्ष एक तिनका रखा अग्नि, वायु इत्यादि उस तिनके पर किंचित मात्र भी प्रभाव न डाल सके। तब उन्होंने इन्द्र (जीवात्मा) से यक्ष (ब्रह्म) को ढूँढ़ने के लिये कहा। इन्द्र ने उमा (बुद्धि) के द्वारा यक्ष को ढूँढ़ा और फिर सबने मिलकर उस यक्ष (ब्रह्म) की उपासना पूजा-सत्कार किया।

अतः मनुष्य को यह दृढ़ विचार कर लेना चाहिये कि मेरा मन सर्वदा ब्रह्म की ओर ही जाय सांसारिक वासनाओं की ओर न जाय क्योंकि वे मनुष्य को सन्मार्ग से पृथक् ले जाने वाली होती हैं।

इस उपनिषद् में ब्रह्म को 'वन' नाम दिया गया है। व=वन्दनीय न=नमस्करणीय अर्थात् ब्रह्म वन्दना और नमस्कार करने के योग्य है। उसी की उपासना करनी चाहिये। उपासना हेतु ऋषि चार साधन बताते हैं- तप, दम, कार्य और वेदों का अध्ययन। इन चार साधनों को ऋषि प्रतिष्ठा अर्थात् जीवन के आयतन भवन का आधार (प्रतिष्ठा) बताते हैं। इन चारों साधनों के अवलम्बन से ही जीवन रूपी भवन की नींव (प्रतिष्ठा) सुदृढ़ हो सकती है। जीवन का यह कार्यक्रम इसी जीवन में करना होगा अन्यथा महान विनाश होगा। यही ऋषि की चेतावनी है।

आख्यायिका

देवताओं और राक्षसों में भयानक युद्ध हुआ। देवता ईश्वर विश्वासी थे उनकी विजय हुई और उनका यश सर्वत्र फैल गया। सब लोग देवताओं की विजय और महिमा से प्रभावित होकर उनकी पूजा करने लगे।

विजय का मद मनुष्य को अंधा बना देता है। देवता भी विजय से उन्मत्त होकर ईश्वर को भुला बैठे और अपने बुद्धि बल तथा पराक्रम की प्रशंसा करते हुए विजय के गीत गाने लगे। वह भूल गये कि वास्तव में ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है और उसी के बल तथा प्रभाव से संसार में सब कुछ होता है। बिना प्रभु आज्ञा के वृक्ष का पत्ता तक नहीं हिल सकता इस तथ्य को उन्होंने मानों विसार दिया। अभिमान मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु होता है। विजय प्राप्त होने पर विजयी को विनीत होना चाहिये किन्तु देवताओं के मन में अभिमान की मात्रा बढ़ रही थी।

देवता लोग एक दिन विजयोत्सव मना रहे थे। सोमपान किया जा रहा था और सब बढ़ चढ़कर अपने-अपने कार्यों का बखान कर रहे थे। सहसा उनकी देव सभा के समीप ही एक अत्यन्त तेजस्वी और अद्भुत कौतूहलप्रद रूपधारी यक्ष प्रकट हुआ। उसके तेज से देवताओं की आँखें स्तब्ध सी हो गईं। उनकी बुद्धि चकरा गई। एक प्रकार का भय सा उत्पन्न हो गया। वह कौन था ? यही सबके मुख से प्रश्न होने लगा। सभी उसे जानने को आतुर होने लगे। सबने मिलकर अग्नि को उसका पता लगाने को भेजा।

जब अग्नि देवता यक्ष के पास पहुँचा तो यक्ष ने पूछा- आप कौन हैं ? 'मैं एक देवता हूँ। मेरा नाम अग्निदेव है। कई लोग मुझे जातवेदस भी कहते हैं।' अग्नि ने उत्तर में कहा।

यक्ष ने पुनः कहा- 'तब तो आप बहुत बड़े देवता हैं।'

अग्नि- 'हाँ देवताओं और मानवों में भी मैं विशेष प्रसिद्ध हूँ।'

यक्ष- 'बहुत अच्छा ! क्या मैं आपके कार्य और सामर्थ्य के विषय में भी कुछ पूछ सकता हूँ ?

अग्नि- क्यों नहीं ? मैं दहन करने की शक्ति रखता हूँ। इस पृथ्वी पर तथा अन्तरिक्ष में जो कुछ भी पदार्थ हैं उन सबको मैं जला कर भस्म कर सकता हूँ।'

यक्ष- तब तो आप सचमुच ही बहुत बड़े शक्तिशाली देव हैं। यह कहते हुए उस यक्ष रूपधारी ईश्वर ने अग्नि में से अपनी शक्ति को खींच लिया और उसके सामने एक तिनका रखकर कहा- अच्छा इस तिनके को जला कर दिखाइये।

अग्नि ने सब प्रकार से यत्न किया किन्तु तिनके को न जला सका। अन्त में लज्जित होकर और मुँह नीचा करके वहाँ से लौट जाना ही उचित समझा।

देव सभा में अग्नि ने यक्ष से परास्त होने का विवरण सुनाया। अब देवताओं ने वायु देव को यक्ष को जानने को भेजा। वायुदेव जब यक्ष के पास पहुँचा घबरा गया और कुछ न बोल सका।

यक्ष ने पूछा- 'आप कौन हैं' और क्या करते हैं ?

वायु ने कहा- मैं वायु देव हूँ और मेरा कार्य है संसार में गमन करना तथा पृथ्वी के गन्ध को वहन करना। मेरा नाम गुण सर्व विदित है और अन्तरिक्ष में गमन करने के कारण मुझे मातरिश्वा नाम से भी पुकारा जाता है।

यक्ष- तब तो आप में भी अलौकिक सामर्थ्य है !

वायु- क्यों नहीं ? इस पृथ्वी और आकाश में जितने भी पदार्थ हैं मैं उन सबको उड़ाकर ले जा सकता हूँ।

वायुदेव की कारीगरी की बात सुनकर यक्षरूपधारी ईश्वर ने वायु से अपनी शक्ति को खींच लिया और वही तिनका सामने रखकर कहा- 'इस तिनके को उड़ा दीजिये।' वायु ने अपना सारा बल लगा दिया परन्तु तिनके का उड़ाना तो दूर हिला भी न सका। अन्त में अपना सा मुँह लेकर

लौट गया।

देव सभा में वायु ने पहुँच कर अपनी पराजय का समाचार सुनाया। अपने दो सर्वश्रेष्ठ देवता अग्नि और वायु को इस प्रकार निस्तेज और पराजित होते देख सब देवता घबरा गये और उन्होंने देवराज इन्द्र से उस यक्ष का पता लगाने और देवताओं की मर्यादा स्थिर रखने की प्रार्थना की।

इन्द्र अभिमान से भरा हुआ जब यक्ष के समीप पहुँचा तब यक्ष अन्तर्धान हो गया और उसने इन्द्र से बात तक नहीं की। इन्द्र इस व्यवहार से बहुत लज्जित हुआ। उसका अभिमान चूर हो गया किन्तु उसने साहस न खोकर वहीं समाधिस्थ होकर ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

थोड़ी देर के पश्चात् उसे आकाश में स्थित अत्यन्त शोभायुक्त और सब प्रकार से उत्तमोत्तम अलंकारों से विभूषित भगवती उमा (ब्रह्म विद्या) दिखाई दी। उसे देखकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ। उसने यक्ष के विषय में पूछा। उमा ने बताया— वह यक्ष स्वयं ब्रह्म था और वास्तव में उसकी शक्ति से देवताओं ने राक्षसों को परास्त कर विजय प्राप्त की थी। उसी की महिमा से देवताओं की महिमा बढ़ी और पूजा हुई। देवता तो निमित्त मात्र थे किन्तु देवताओं को अभिमान हो गया। वह विजय को अपने बुद्धिबल का फल मानकर उन्मत्त हो गये। अतः देवताओं का अभिमान मिथ्या है उन्हें अभिमान त्याग कर स्मरण रखना चाहिये कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब उसी ब्रह्म (ईश्वर) की इच्छा से हो रहा है। उमा की बातें सुनकर इन्द्र की आँखें खुल गईं। उसका अभिमान जाता रहा। वह देव सभा में पहुँचा और उसने अग्नि, वायु तथा अन्य सब देवताओं को ब्रह्म की शक्ति का उपदेश दिया।

ब्रह्मशक्ति को सबसे पहले जानने के कारण ही इन्द्र को देवराज अन्य देवों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया है।

• •

(३) कठोपनिषद्

यजुर्वेद की कठ शाखा के अर्न्तगत कठ ऋषि द्वारा कही उपनिषद् कठोपनिषद् कहलाती है। यहाँ इतिहास के साथ ब्रह्म विद्या का उपदेश इसलिये है कि ज्ञान की इच्छा रखने वालों को दृढ़ ज्ञान हो और ब्रह्म विद्या की उत्तमता विदित हो। ऋषि वाजश्रवस नचिकेता के पिता ने सर्वस्व दान कर सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। ऋषि वाजश्रवस का नाम वाज (अन्न) के अधिक दान से प्रसिद्ध हुआ था। वाजश्रवस पिता के दान को बालक नचिकेता भी देख रहा था। पुत्र ने देखा कि पिता ने सामर्थ्यहीन बूढ़ी गायें भी दान में दे दी हैं। उसने विचार ऐसे दान से मनुष्य को आनन्द लोक नहीं प्राप्त होते। उसने पिता को उपालम्भ देते हुए बार-बार कहा- मैं भी तो आपकी वस्तु हूँ। मुझे किसे दान देते हो ? पिता ने क्रोधवश स्वीजकर उसे त्याग दिया। नचिकेता पूर्वजन्म के संस्कार से बाल्यावस्था से ही आत्मज्ञान की उत्कण्ठा रखता था। वह ब्रह्मज्ञानी यम नामी आचार्य के पास पहुँच गया। गुरु ने जिज्ञासु शिष्य को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया। यही विषय इस उपनिषद् में है।

जब ऋषि वाजश्रवस ने पुत्र नचिकेता को कह दिया जाओ तुम्हें यम को देता हूँ तो पुत्र यम नामक ऋषि के आश्रम में पहुँचा। उस समय ऋषि यम अन्यत्र जाने के कारण अनुपस्थित थे। नचिकेता उनकी प्रतीक्षा में 3 रात्रि अनशन करके रहा। जब ऋषि वापस आये उन्होंने अपने द्वार पर 3 दिन से भूखे अतिथि का समाचार सुना तो बहुत कष्ट हुआ उन्होंने कहा ऐसी स्थिति में अतिथि अपने पाप गृहस्थ के पास छोड़ा जाता है और उसके पुण्य ले जाता है। उन्होंने ब्रह्मचारी से 3 वर मांगने को कहा। नचिकेता ने पहला वर मांगा- जब मैं घर वापस जाऊँ तो पिता पूर्ववत् प्रेम से मिलें। ऋषि ने स्वीकार कर लिया। नचिकेता क्रोधवश पिता के कहने पर उनकी इच्छा के विरुद्ध आया था अतः उसने पहले वर में पितृ ऋण के चुकाने हेतु पिता के खेद की निवृत्ति हेतु उनकी शांति की

कामना की। दूसरे वर में उसने स्वर्ग प्राप्ति में सहायक अग्नि विद्या का उपदेश मांगा ऋषि ने आशीर्वाद दिया सम्पूर्ण यज्ञ विधि बताई और कहा कि यह अग्नि तुम्हारे नाम पर अर्थात् नचिकेता अग्नि प्रसिद्ध होगी। तीसरे वर में उसने आत्मज्ञान का उपदेश चाहा- मृत्यु के बाद आत्मा कहाँ जाती है ? उसका अस्तित्व रहता है या नहीं ? यम आचार्य ने पहले भय से फिर लोभ से नचिकेता की परीक्षा ली किन्तु जब देखा कि वह सांसारिक प्रलोभनों से भी आकृष्ट नहीं हुआ आत्म विद्या का पात्र जिगासु है तब उसे आत्म विद्या और ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर अमृत पद की प्राप्ति का मार्ग बताया।

ऋषि ने श्रेय और प्रेय जीवन के दो मार्गों का उपदेश देते हुए बताया कि मोक्ष का अभिलाषी श्रेयमार्ग का अवलोकन करता है और सांसारिक सुख का अभिलाषी प्रेय मार्ग को चुनता है। आत्म दर्शन के तीन उपाय बताये- निष्काम कर्म, हर्ष-शोक से विरक्ति, प्रभु कृपा। अध्यात्म योग द्वारा ब्रह्म दर्शन के मार्ग का उपदेश किया। इस विश्व की वृक्ष से उपमा देकर ऋषि ने बताया इस वृक्ष का मूल ऊपर, शाखायें नीचे हैं। इसका नाम अश्वत्थ (कल तक न रहने वाला) है और अनादि काल से विद्यमान है। यह मूल ब्रह्म है। इसी में सब कुछ आश्रित है कोई वस्तु इससे बाहर नहीं है। जिस समय मनुष्य के हृदय की सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं, इनसे मुक्त हो जाता है तभी वह ब्रह्म का दर्शन कर पाता है। ऋषि कहते हैं नचिकेता को दिये गये इस अध्यात्म उपदेश को जो जानेगा वह भी नचिकेता के सदृश अमर पद को प्राप्त करेगा।

इस उपनिषद् से यम और नचिकेता के संवाद रूप में ब्रह्म विद्या का विशद वर्णन मिलता है। नचिकेता ने यह जानकर कि पिता ने क्रोध में उसे यम को दान देने को कहा है उनके कथन की उपेक्षा नहीं की जैसे राम ने कैकेयी के छलावे की ओर न देख कर दशरथ के वचनों का पालन किया। यम आचार्य के गृह 3 दिन निराहार रहना नचिकेता की प्रौढ़ सत्य निष्ठा का दर्शन कराता है। यमाचार्य द्वारा तीन वर से अतिथि

सत्कार के महत्व पर सुन्दर शिक्षा मिलती है।

उपनिषद् के अन्त में यमाचार्य ने नचिकेता से कहा मानव हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं। एम मूर्धा (कपाल) को निकल जाती है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। जिसका प्राण मूर्धा से निकलता है वह अमृत मोक्ष प्राप्त करता है। शेष 100 नाड़ियों में से जिनके प्राण निकलते हैं वह नाना योनियों में पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं।



अनौखा अतिथि-नचिकेता

ऋषि बाजश्रवस का पुत्र नचिकेता अपने पिता के सर्वमेध यज्ञ के बाद गौदान देख रहा था। उसके मन में एक प्रश्न उठा कि शक्तिहीन बूढ़ी गायों के दान से क्या लाभ ? न देने योग्य गौदान से दाता का उल्टा अमंगल होता है। पुत्र ने पिता से अपनी वेदना को इस प्रकार प्रकट किया-

‘हे पिताजी ! मैं भी तो आपका धन हूँ। मुझे आप किसे देते हैं ? पिता शांत रहे। तीसरी बार इसी प्रश्न को सुनकर ऋषि चिढ़ गये और स्वीजकर बोले- ‘तुझे देता हूँ मृत्यु को।’

नचिकेता ने सोचा पिता ने क्रोध के कारण ऐसा कह दिया है किन्तु जो कुछ भी हो उनके वचन का पालन होना चाहिये। वह मृत्यु (यमराज) के यहाँ जाने को उद्यत होने लगा। यह देख ऋषि अपने क्रोध पर पछताने लगे। कुछ ही क्षणों में नचिकेता यम के पास जाने की आज्ञा मांगने हेतु पिता के समक्ष उपस्थित होकर बोला-

‘मनुष्य अनाज की तरह ही जराजीर्ण होकर मर जाता है और अन्न की ही तरह कर्मवश पुनः जन्मता है। अतः इस अनित्य संसार में मिथ्या आचरण से क्या प्रयोजन, आप अपने सत्य का पालन कर मुझे यमराज के पास जाने की आज्ञा दीजिये।’ दुःखित पिता करते ही क्या ? उन्होंने पुत्र की सत्य निष्ठा देख आज्ञा प्रदान कर दी।

नचिकेता यमराज के यहाँ पहुँचे, किन्तु उस समय वह कहीं अन्यत्र गये हुए थे। उनके घर वालों ने उनका आतिथ्य किया किन्तु नचिकेता ने कुछ भी न स्वीकार कर तीन रात्रि तक उनकी प्रतीक्षा की और अन्न जल भी ग्रहण न किया। जब यमराज अपने घर लौटे तो उन्होंने एक ब्रह्मचारी का 3 दिन तक उनकी प्रतीक्षा में किये व्रत का समाचार सुना। उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ कि एक ब्रह्मचारी 3 दिन से

निराहार उनकी वाट जोह रहा है। वे स्वयं स्वर्ण कलश लेकर अतिथि नचिकेता को पाद अर्घ्य देकर आदरपूर्वक कहने लगे- 'हे ब्राह्मण ! तुम अतिथि होकर तीन दिन मेरे यहाँ बिना कुछ खाये पड़े हो यह मेरा बड़ा अपराध है। अतः प्रत्येक रात्रि के लिए एक-एक कुल तीन वर तुम मुझसे मांग लो जिससे मेरे अतिथि सेवा न कर सकने के अपराध की निवृत्ति हो सके।

सदा सन्तुष्ट नचिकेता ने तीन वर इस प्रकार मांगे-

पहला वर- मेरे पिताजी मेरे प्रति शांत संकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोध रहित हो जायें।

द्वितीय वर- आप स्वर्ग के साधनभूत अग्नि का यथार्थ रूप मुझे बताइये।
तीसरा- तीसरे वर से मैं यह जानना चाहता हूँ कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन और बुद्धि के अतिरिक्त कोई अन्य आत्मा है अथवा ऐसा कोई स्वसन्न आत्मा नहीं है। मुझे इस आत्मतत्त्व को जानने की अभिलाषा है।

यमराज ने पहला वर देते हुए कहा जब तुम यहाँ से अपने पिता के पास पहुँचोगे वह शांत और तुमसे प्रसन्न होंगे।

दूसरे वर को देते हुए उन्होंने कहा- अग्निहोत्र सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति का साधन है। विराट रूप से जगत की प्रतिष्ठा का मूल कारण है। उन्होंने नचिकेता को यज्ञ स्थान के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्रियाँ तथा अग्नि चयन की विधि बतलाई। यमराज ने बड़ी तपस्या से जिस अग्नि विद्या को जाना था उसे नचिकेता को उत्तम जिज्ञासु जानकर बता दिया।

तीसरे वर के सम्बन्ध में यमराज ने कहा- आत्मतत्त्व समझना आसान नहीं है। यह अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर विषय है। बड़े-बड़े विद्वानों को भी इस विषय में सन्देह हो जाता है। अतः तुम इसके स्थान पर कोई दूसरा वर मांग सकते हो।'

यमराज की तीसरे वर के परिवर्तन की बात सुनकर और

आत्मतत्त्व विषय की कठिनता से वह भयभीत नहीं हुआ और अधिक दृढ़ता से कहने लगा- 'जब विद्वानों को इस विषय में सदेह हो जाता है, यह विषय कठिन है तो आप जैसा विद्वान वक्ता मुझे ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा जो इस विषय को समझा सके। अतः मेरा निवेदन है कल्याण प्राप्ति हेतु इस महत्वपूर्ण विषय को ही समझाइये। मैं इसके स्थान पर कोई दूसरा वर नहीं मांगना चाहता हूँ।'

यमराज ने देखा नचिकेता विषय की कठिनता से भयभीत नहीं हुआ तो उन्होंने लोभ देकर दूसरे वर को बदलने के लिए कहा- तुम आत्मतत्त्व के रूखे विषय को जान कर क्या करोगे ? इसके स्थान पर तुम विशाल भूमण्डल का राज्य, स्वर्ण आदि अनेक सम्पत्तियाँ, दीर्घजीवन, मृत्युलोक के दुर्लभ सुख सब जो कुछ चाहो मांग लो किन्तु हे नचिकेता- मृत्यु के बाद आत्मा रहती है या नहीं ? इस आत्मतत्त्व के प्रश्न को मत पूछो।

वैराग्य की उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ नचिकेता लोभ से बिल्कुल प्रभावित नहीं हुआ वह कहने लगा- 'ये सभी भोग्य वस्तुयें कल तक रहेंगी भी या नहीं इसमें सदेह है तथा ये मनुष्य की इन्द्रियों के समस्त तेज को भी हर लेती हैं। दीर्घजीवन भी अनन्त काल की तुलना में बहुत थोड़ा ही है। मुझे तो वही आत्मतत्त्व वर चाहिये।

इस प्रकार नचिकेता ने महान ऐश्वर्य, दीर्घ जीवन और भय त्याग कर अग्नि परीक्षा में अपने को उत्तीर्ण कर लिया। यमराज ने उसे अत्यन्त गुण-सम्पन्न, श्रेष्ठ तथा आत्म विद्या के लिये उपयुक्त पात्र, जिज्ञासु समझा और उसे आत्म तत्त्व का ज्ञान निम्न प्रकार देना प्रारम्भ किया-

हे नचिकेता ! परमात्मा के समस्त नामों में 'ओइम्' उसका सर्वश्रेष्ठ नाम है। इस अक्षर को ब्रह्म स्वरूप समझकर इसकी उपासना करने से साधक को जो वह चाहता है प्राप्त होता है।

यह चेतन्य स्वरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है, न किसी

दूसरे से उत्पन्न होता है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सनातन है। शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता।

शरीर रथ है। रथ का स्वामी आत्मा रथी है। बुद्धि सारथी है, मन लगाम है। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द-स्पर्श आदि विषय ही इनके दौड़ने के मैदान हैं और शरीर, इन्द्रिय तथा मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।

जिसकी बुद्धि में विवेक होता है, मन एकाग्र होता है, इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ों की भाँति बुद्धि रूप सारथि के वश में रहती हैं। जिसका मन निग्रहीत है, विवेकी है, पवित्र है वही इस रथ को लक्ष्य पर पहुँचा सकता है। उसी को परम पद की प्राप्ति होती है। वह बारम्बार जन्म मरण रूप कष्ट पथ से बचकर संसार में नहीं भटकता। वह लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करता परम मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। अतः उठो जागो और महापुरुषों के पास जाकर उसे जानो। यह मार्ग तलवार की धार पर चलने के समान कठिन अवश्य है।

यमराज ने आगे मृत्यु के बाद क्या होता है उसका वर्णन करते हुए कहा- जिसके जैसे कर्म हैं, जैसी वासना है, जैसा ज्ञान है उसी के अनुसार वह विभिन्न योनियों में आता है।' अमृत तत्त्व का वर्णन करते हुए उन्होंने आगे कहा-

‘जब समस्त प्राणी निद्राग्रस्त होते हैं एक निर्गुण ज्योतिर्मय ब्रह्म सुप्रकाशित रूप से जागृत रहकर समस्त विषयों को प्रकाशित करता है। वही ब्रह्म है। उसी का नाम अमृत है। पृथ्वी आदि सब लोक उसी में अवस्थित हैं। अग्नि उसी के भय से तपता है, सूर्य उसी के भय से तपता है, इन्द्र, वायु, मृत्यु उसी के भय से दौड़ते हैं। जो पुरुष इस शरीर के नाश होने से पूर्व उस आत्मा को जान लेता है वही मुक्त होता है। मरणशील मनुष्य अमृत बनकर यहीं पर ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्मानन्द में मग्न होता है। उस अवसर पर उसके हृदय की, मैं मेरे की समस्त ग्रथियाँ

टूट जाती हैं और वह अमृत बन जाता है। यही शास्त्र का उपदेश है इससे परे कुछ भी नहीं है।'

नचिकेता आत्मज्ञान वर पाकर परम सन्तुष्ट हुआ। उपनिषद् की यह आख्यायिका अत्यन्त सुन्दरता से आत्मतत्त्व और उसकी प्राप्ति का उपाय दर्शाती है।'



(४) प्रश्नोपनिषद्

यह उपनिषद् अथर्ववेद सम्बन्धी है। इसमें 6 प्रश्न और उनके उत्तर कहे हैं। इसलिये इसका नाम प्रश्नोपनिषद् है। इसमें भारद्वाज आदि 6 ऋषि महर्षि पिप्पलाद से प्रश्नोत्तर करते हैं।

छः ऋषि जो जिज्ञासु और ब्रह्मनिष्ठ थे हाथ में समिधायें लेकर ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हेतु और अपनी शंकाओं के निवारण हेतु महर्षि पिप्पलाद की सेवा में पहुँचे। महर्षि ने कहा-तुम 1 वर्ष तक मेरे पास तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक निवास करो। उसके बाद इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि हम उत्तर जानते होंगे तो सब कुछ बता देंगे। एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर उन्होंने 6 प्रश्न किये जिनके उत्तर महर्षि ने दिये। यह प्रश्नोत्तर ही प्रश्नोपनिषद् का विषय है।

1 कबन्ध ऋषि का प्रश्न-

सृष्टि के आरम्भ में प्रजा-समस्त प्राणियों की उत्पत्ति किससे होती है ?

उत्तर- प्रजापति ने तप करने के बाद मिथुन जोड़े उत्पन्न किये जो रयि तथा प्राण हैं। विभिन्न प्रकार की प्रजा को रयि तथा प्राण ही उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक वस्तु में रयि और प्राण का सम्मिश्रण है। विश्व में सर्वत्र द्वित्व है। इसी से अनेकता का प्रादुर्भाव होता है। (रयि-प्राण भी सूक्ष्म प्राकृत विकार हैं)

2. वैदर्भि का प्रश्न-

प्रजा को कौन देव धारण करते हैं, कौन प्रकाशित करते हैं ? उनमें कौन मुख्य हैं ?

उत्तर- प्राण ही धारण करता है, प्रकाश करता है और मुख्य है। प्राण ही अग्नि रूप है। सूर्य को प्रकाश दे रहा है। बादल के रूप में जल बरसा रहा है। प्राण ही धन के रूप में दान दे रहा है, वायु के रूप में जीवन दे रहा है। पृथिवी के रूप में

आश्रय दे रहा है। रथ की नाभि में जैसे अरे जुड़े रहते हैं वैसे प्राण में सब स्थित हैं। पृथ्वी, द्यौ, अन्तरिक्ष तीनों लोकों में सब कुछ प्राण के वश में है।

3. आश्वलायन का प्रश्न-

प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है ? शरीर में किस प्रकार विभक्त होकर स्थित है, किस प्रकार शरीर से निकलता है ? बाह्य संसार को किस प्रकार धारण करता है। आत्मा को इस शरीर में किस प्रकार धारण करता है।

उत्तर- प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है। जैसे पुरुष के साथ छाया लगी है वैसे आत्मा के साथ प्राण लगा है मन की वासनायें ही आत्मा को शरीर में लाती हैं और आत्मा के साथ ही शरीर में प्राण चलने लगता है। अपान, समान, व्यान, उदान के रूप में शरीर में विभक्त होता है। उदान प्राण द्वारा आत्मा शरीर से निकलता है। जब तक शरीर में तेज रहता है तब तक आत्मा उदान की सहायता से शरीर में ही रहता है। शरीर का तेज जब शांत हो जाता है तब उदान प्राण की सहायता से पुण्य कर्मों के कारण पुण्य लोक में, पाप कर्मों के कारण पाप लोक में और उभय कर्मों के कारण मनुष्य लोक में आता है। प्राण की शारीरिक शक्ति तेज है। मानसिक शक्ति चित्त है। प्राण शरीर से जाते समय अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों आधारों को साथ लेकर चल देता है।

4. सौर्यायिजी गार्ग्य का प्रश्न-

इस पुरुष में कौन सोता है ? कौन जागता है ? कौन स्वप्न देखता है ? किसे मुख होता है ? यह सब किसमें प्रतिष्ठित है ?

उत्तर- सब इन्द्रियाँ मन में सिमट कर सोती हैं। पाँचों प्राण रूपी अग्नियाँ सदा जागती रहती हैं। मन ही स्वप्न देखता है

और उसे ही इस शरीर में सुख दुख अनुभव होता है। यह सब आत्मा में प्रतिष्ठित हैं।

5. सत्यकाम का प्रश्न-

जो व्यक्ति जीवन भर ओंकार का ध्यान करे वह किस लोक को जीत लेता है ?

उत्तर- ओंकार की तीनों मात्राओं से उपासक शान्त, अजर, अमृत अभय होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

6. सुकेश भारद्वाज का प्रश्न-

सोलह कलाओं वाला पुरुष क्या है और कहाँ है ?

उत्तर- वह पुरुष जिसमें 16 कलाओं का प्रादुर्भाव होता है इस शरीर के भीतर है। पहले प्राण का सृजन किया फिर प्राण द्वारा-श्रद्धा, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम इन सोलह कलाओं का सृजन किया। इन कलाओं से ही ब्रह्मांड और पिंड का निर्माण होता है।



(५) मुण्डकोपनिषद्

अन्तःकरण में विद्यमान समस्त अविद्या, अन्धविश्वासादि के मैलों को मूँडने-दूर करने वाला होने से इसे मुण्डकोपनिषद् कहते हैं। इसके स्वाध्याय से मानसिक विकार दूर हो जाते हैं।

शिष्य के शिष्य आदि परम्परा से अंगिरा ऋषि ने शौनक को जो उपदेश किया वह मुण्डकोपनिषद् में दिया है। यह अथर्ववेद से सम्बन्धित है। उपदेश निम्न प्रकार है-

ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं। उनसे उसे देखा या ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह नित्य, विभु, सर्वत्र पहुँचा हुआ, सूक्ष्म, वृद्धि ह्रास रहित और सब भूतों का कारण है। धीरे एवं आत्मविद्या से ज्ञानी जन उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

वह सर्वत्र है, सब जगह विद्यमान है। ज्ञान ही उसका तप है। इस तप के विकास से ही बृहत नाम रूप वाला जगत और यह स्थूल प्रकृति उत्पन्न होते हैं जिससे सब व्यवहार चल रहे हैं।

सकाम भाव से किये गये कार्यों से प्राप्त सुख एवं ऐश्वर्य की परीक्षा करके विद्वान् पुरुषों के हृदय में संसार के विषयों के प्रति उदासीनता आ जाती है। वह समझ जाते हैं कि नाशवान् पदार्थों से अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

उस ब्रह्म को जानने के लिये हाथ में समिधायें लेकर वेद के विद्वान्, सच्चे उपासक गुरु की सेवा में जिज्ञासु भाव से जाना होगा। वहाँ गुरु के निर्देशानुसार शांत चित्त, इन्द्रियों का संयम करके गुरु सेवा में लीन रह गुरु से तत्त्व सहित ब्रह्म विद्या का उपदेश प्राप्त करना होगा।

ब्रह्म की शक्ति से ही समुद्र और विभिन्न नदियाँ बहती हैं, पर्वत स्थिर रहते हैं, विभिन्न वनस्पतियों में रस उत्पन्न होता है, उसकी शक्ति से ही पंचभूत ठहरे हुए हैं, इस विश्व का अन्तरात्मा वही ब्रह्म है। हृदय गुहा में छिपे हुए उसे जो जान लेता है वह अविद्या की गाँठ को काट

देता है।

प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है। प्रमाद रहित होकर इस लक्ष्य का बोध करना है। उस ब्रह्म का ओंकार रूप में ध्यान करने से हृदय का सब गाँठें कट जाती हैं, सब प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं, व्यर्थ के अनेक प्रकार के कर्मों का अन्त हो जाता है। अंधकार से पार जाने और कल्याण का यही एक मात्र साधन है।

इस सांसारिक स्वर्ण के खजाने से दूर एक निर्मल और निष्कलंक ब्रह्म का खजाना है। वह सर्वथा शुभ्र और ज्योतियों का भी ज्योति है। मन और प्राण सहित सारा विश्व उसी में ओत प्रोत है, जो अन्य बातों को छोड़कर आत्मवित्त हो जाता है वही उसे जान सकता है।

एक ही वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं जिनके सुन्दर पंख हैं, साथ-साथ जुड़े हुए हैं। वे एक दूसरे के मित्र हैं। इनमें से एक (जीवात्मा) वृक्ष के फलों को स्वाद से खा रहा है जबकि दूसरा (परमात्मा) बिना खाये सब कुछ देख रहा है। जीवात्मा, परमात्मा दो पक्षी हैं, प्रकृति ही वृक्ष है। कर्मफल ही वृक्ष के फल हैं। प्रकृति रूपी वृक्ष के फल खाने में फंसा हुआ जीवात्मा अपने को निर्बल और बेवस समझता है और मोहग्रस्त हो जाता है। जब वह अपने समीप बैठे अपने सखा परमात्मा को जान लेता है उसकी महिमा को समझ लेता है तब वह शोकमुक्त हो जाता है।

जब जीवात्मा दृष्टा रूप में विश्वकर्त्ता, सबके स्वामी, सबके प्रकाशक, ब्रह्म को देख लेता है तो वह अधिक नहीं बोलता, अपनी आत्मा में ही खेलता है, उसका जीवन क्रियाशील हो जाता है। वह पुण्य पाप दोनों से मुक्त होकर, शोक मोह से प्रथक होकर ब्रह्म वेत्ताओं की श्रेष्ठ पदवी को प्राप्त करता है।

सत्य की जीत होती है असत्य की नहीं। दिव्य जीवन का मार्ग सत्य से ही बना है। सत्य से मनुष्य की लालसा नहीं रहती। वह सन्तुष्ट हो जाता है। जो सन्तुष्ट नहीं रहता वह झूठ बोलकर धोखा देकर अधिक धन वैभव प्राप्त करना चाहता है और दुखी रहता है। सत्य का

मार्ग ही निष्कण्टक है। इसके द्वारा ही मनुष्य स्वयं सुखी रह सकता है और दूसरे को भी सुख दे सकता है। आप्त काम ऋषि सत्य मार्ग द्वारा ही परमधाम तक पहुँचते हैं।

ब्रह्म कहां रहता है और उसे कैसे पाया जा सकता है ?

ब्रह्म अन्तरात्मा की गुहा में ही देखा जा सकता है किन्तु वह इन्द्रियों से नहीं अपितु उसे एक निश्चित ज्ञान मार्ग से शुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति ही देख पाता है। वह दूर से दूर और निकट से निकट है। जो आत्मज्ञानी हैं उनके अति निकट है और जो ज्ञानी नहीं हैं उनसे बहुत दूर है। भाषाओं, तर्क, वितर्क अथवा कुछ पढ़ने सुनने मात्र से उसका दर्शन नहीं होता। बलहीन, प्रमादी, बिना लक्ष्य के तपस्या करने वाला उसे प्राप्त नहीं कर सकता। उपायों से यत्न करने वाला विद्वान् ब्रह्म में स्थित आनन्द के दर्शन कर पाता है।

संसार में विरक्त भाव से रहते हुए कर्म योग द्वारा जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लिया है। ऐसे व्यक्ति मृत्यु आने पर अमृत पद को प्राप्त करते हुए सब बन्धनों से मुक्त हो ब्रह्म लोक में प्रवेश करते हैं। ब्रह्म को जानने वाला ही शोक और पाप से तैरता हुआ हृदय में पड़े बुरे संस्कारों की गांठों से मुक्त होकर अमृत पद को प्राप्त करता है।

अन्त में ऋषि निर्देश करता है कि जिनका जीवन क्रियाशील है, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, श्रद्धापूर्वक ऋषि चरणों में उपस्थित रह कर व्रत लेते और व्रत पालन करते हैं उन्हीं अधिकारियों को उपर्युक्त उपदेश देना चाहिये। जो श्रद्धापूर्वक ब्रह्म ज्ञान के लिये नहीं आवें उन्हें ब्रह्म विद्या का ज्ञान नहीं देना चाहिये क्योंकि जो ब्रह्म विद्या पर आचरण नहीं करना चाहता वह ब्रह्म विद्या का पाठ नहीं पढ़ सकता।



(६) माण्डूक्य उपनिषद्

यह अथर्ववेद माण्डूक्य शाखा के अन्तर्गत है। माण्डूक्य ऋषि इसके निर्माता हैं। यह उपनिषद् सबसे छोटी है किन्तु इसलिये महत्वपूर्ण है कि इसमें परमात्मा के मुख्य नाम 'ओम्' का महत्व दिखाया गया है। केवल ओंकार की ही व्याख्या की गई है।

परमात्मा जीवात्मा का अनेक विषय में साधर्म होने पर भी शरीर में परिच्छिन्न जीवात्मा और सर्वत्र व्याप्त अपरिच्छिन्न परमेश्वर है। अतः जीव में ईश्वर की भ्राति नहीं हो सकती। जीवात्मा परमेश्वर का प्रतिबिम्ब भी नहीं क्योंकि स्थूल परिच्छिन्न वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है निराकार अपरिच्छिन्न का नहीं। अतः जीव ईश्वर ये दो चेतन सत्तायें प्रथक-प्रथक ही हैं।

'ओम्' पद में पहली मात्रा अकारः है, वर्णमाला में प्रथम अक्षर अ है। वाणी का व्यापार अकार से व्याप्त है। वैश्वानर अग्नि भी सर्वत्र व्याप्त है, जैसे अग्नि सदैव जागता, अ अक्षर वाणी के व्यवहार में व्याप्त है वैसे ही जगत की स्थिति दशा में अपने अपने काम में सबको प्रेरणा करने वाला परमेश्वर जागता है। वह सर्वत्र व्याप्त है और सबका आदि है किन्तु उसका कोई आदि नहीं। परमात्मा को जो लोग जानते हैं वे लोक में सर्वोपरि प्रतिष्ठित और अग्रगण्य हुए सभी अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त होते हैं।

ओम् इस वाचक पद की उकार द्वितीय मात्रा है वह तेजसत्त्व धर्म को प्राप्त होती है। यह उकार अकार मकार दोनों से सम्बन्ध रखता और समता से उत्कृष्ट होता है। अपने स्वरूप में अवस्थित होने से वह तैजस बनता है।

वाचकपद ओम् में तीन मात्रायें हैं अ, उ, म। अकार से सब में व्याप्त सबको नियम पूर्वक अपने-अपने कर्म में चलाने वाले उकार में मध्यस्थ होने उत्कृष्ट अवप्तर प्रलय की दशा में रहने वाले और मकार में सब के प्रमाणकर्त्ता ज्ञान स्वरूप वाच्य ईश्वर का ग्रहण है। परमेश्वर

प्रवृत्ति में जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लयों को करता है और निवृत्ति में शांत होकर ठहर जाता है।

अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव भगवान तो एक रस और प्रशांत है। वह कल्पना से अगम्य है। केवल भक्ति से ग्राह्य है। ओंकार ही परमेश्वर है। जो भगवत् भक्त वाच्य वाच्य की एकता को ऐसा जानता है यह भक्ति धर्म की आराधना से अपने आत्मा से परमात्मा में प्रवेश कर जाता है। वह ज्ञानी अपने आप ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

वाणी के चार पद हैं जिनको विद्वान जानते हैं। इसके तीन पद तो भीतर ही भीतर बोले जाते हैं। केवल चौथी वाणी जिसे बैरवरी कहते हैं उसे सभी मनुष्य बोलते हैं।

जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन शरीर होते हैं। वह जागृत अवस्था में स्थूल शरीर से, स्वप्न की अवस्था में सूक्ष्म शरीर से और सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर से युक्त रहता है। जागृत अवस्था में जीव की बुद्धि बाहर की ओर दौड़ रही होती है। यह आत्मा का प्रथम पाद है इसे वैश्वानर भी कहते हैं। स्वप्नावस्था में आत्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा विचारों द्वारा भोगों को भोगता है। यह आत्मा का द्वितीय पाद कहलाता है। सुप्ति अवस्था में आत्मा अपने को शरीर से अलग सा कर लेता है। ज्ञान की गहन अवस्था में पहुंच कर उसका मुख ब्रह्म की ओर हो जाता है। वह ज्ञान में डूब कर आनन्द विभोर हो जाता है। यह आत्मा का तृतीय पाद कहलाता है।

आत्मा और ब्रह्म की चौथी स्थिति को तुरीयावस्था कहा गया है जो ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है किन्तु अव्यवहार्य है। यहाँ प्रकृति और शरीर का प्रपंच समाप्त हो जाता है। अतः ओंकार ही शरीर में आत्मा और प्रकृति में ब्रह्म है। जब व्यक्ति आत्मज्ञान द्वारा अन्तरात्मा में प्रवेश करता है तब ओंकार के इस रूप को जानता है।



(७) ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक के अंतिम तीन अध्यायों में जीव ब्रह्म विषयक आत्मविद्या का वर्णन है यह महिदास ऐतरेय ऋषि ने बनाया। ये तीनों अध्याय ऐतरेयोपनिषद् कहलाती हैं। पहले अध्याय में शरीरादि रूप में बने स्थूल जगत की रचना, द्वितीय अध्याय में जीव के गर्भ में आने और अपनी दुरावस्था रूप पूर्वजन्म के कर्मों का स्मरण कर शोक व पश्चाताप करना और जन्ममरण के प्रवाह से होने वाले कष्ट से निकलने की प्रतिज्ञा करना व तीसरे अध्याय में जीव ईश्वर की विभिन्नता के साथ मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है। यह उपनिषद् यद्यपि छोटी है किन्तु मनुष्यों को जागृत करने वाली तथा कर्तव्य बोध कराने वाली होने से महत्वपूर्ण है।

सृष्टि की रचना से पूर्व ईश्वर स्व सत्ता, शक्ति, स्वेच्छा से सर्वत्र विद्यमान था। प्रकृति प्रसुप्त थी। परमात्मा ने उसे प्रकाशित किया। भगवान ने लोकों की रचना करने के बाद विराट की रचना की। विराट से मनुष्य की रचना हुई। अग्नि आदि देवता रचे। विधाता ने रहने के लिये कई शरीर दिखाये पहले गाय, घोड़ा, आदि अनेक पशु शरीर दिखाये किन्तु देवता बोले यह हमारे लिये उचित नहीं हैं। अन्त में विधाता ने मनुष्य का शरीर दिखाया जिसे उन्होंने स्वीकार किया। तदन्तर मनुष्य की भूख प्यास शांति हेतु अन्न बनाया। यह भौतिक देह बिना आत्मा के कैसे रहती। अतः संस्कारानुसारी आत्मा सिर के ऊपर के भाग कपाल को फोड़कर देह में प्रविष्ट हुआ। बाल्यावस्था में मूर्द्धा में वह छेद पिलपिलाता स्पष्ट दीखता है। इसी को ब्रह्मांड कहते हैं। योगी और ज्ञानी मनुष्यों का जीवात्मा इसी मार्ग से निकल मोक्षानन्द पाता है।

गर्भस्थ जीव अपने भीतर पूर्व संस्कारों का स्मरण करता अत्यन्त दुखी होता है और प्रतिज्ञा करता है कि किसी प्रकार अबकी बार योनिरूप ग्राह से छूट जाऊँ तो उस महान ईश्वर के चरण पकड़ लूँ जिससे ऐसे कष्ट में फिर न आना पड़े। किन्तु जैसे ही वह जन्म लेकर बाहर आता

है बाहर के वायु के प्रभाव से भूख प्यास निवृत्त होता है गर्भ में की हुई सपथ को भूल जाता है।

जिससे रूप को देखता, शब्द को सुनता, गंधों को सूंघता, वाणी बोलता है, दृष्टादृश्य का संयोग अच्छे बुरे स्वाद को जानता है वह जीव है। किन्तु सर्वव्याप्त असीम चेतना स्वरूप परमात्मा की सहायता के बिना जीवात्मा मन के विद्यमान होने पर भी उससे सम्यग ज्ञानादि कुछ नहीं कर सकता। केवल ईश्वर ही सर्वोपरि सम्यग ज्ञानी, विज्ञानी, प्रज्ञानस्वरूप तथा असीम मेधादि से युक्त है।

उपासक ज्ञाता जीवात्मा उपासना द्वारा सर्व व्याप्त परमात्मा को जानकर स्थूल शरीर से मरण समय में प्रथक होकर सुखस्वरूप परमेश्वर के साथ मिलकर आनन्दों को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार यह पृथ्वी मर्त्यलोक है क्योंकि यहाँ जन्ममरण इसी पर होता है। आत्मा वह है जो हृदय साक्षी है। परमात्मा निर्भ्रान्त है सर्वज्ञ और विश्व का नियन्ता है, संचालक तथा सब का आश्रय है। उसी परम चेतन से विश्व चलाया जा रहा है।

अन्त में ऋषि प्रार्थना करता है मेरा मन वचन एक हो। भीतर बाहर एक हो। मुझ पर वेद विद्या का प्रकाश हो।



(८) तैत्तिरीय उपनिषद्

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत तित्तिर ऋषि ने इस उपनिषद् की रचना की। इसमें मनुष्य को जिस प्रकार आचरण करके कल्याण भागी होना चाहिये वे सब साधन कहे हैं। ब्रह्मज्ञान मुक्ति में भी कर्म की प्रधानता का वर्णन है बिना कर्म के कोई सुख नहीं पा सकता।

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, ऊरुक्रम (महापराक्रमी) ये सब परमात्मा के गुणवाचक नाम हैं।

गुरु शिष्य दोनों मिलकर कहते हैं- हम दोनों का ब्रह्मा तेज और यश एक साथ बढ़े। वह चाहते हैं कि अमृत के दिव्य गुणों को धारण करें। शरीर बलवान हो। समस्त इन्द्रियाँ बलवान और सन्मार्गगामी हों। मेधा से चारों ओर से घिरे रहें। ऐसी शक्ति हो जिससे जो कुछ पढ़ें, सुनें उसकी रक्षा कर सकें।

कर्म ही महान है। अतः ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्न्याधिन, अग्निहोत्र, अतिथि सेवा, मनुष्य सेवा, प्रजापालन, ये सब कर्तव्य पालन करता हुआ स्वाध्याय (स्वयं अध्ययन करना) और प्रवचन (दूसरों को अपने स्वाध्याय से उपदेश देना) इन दोनों कार्यों को कभी न छोड़े।

प्रतिदिन 6 संकल्प करने चाहिये-

1. मैं इस संसार रूपी वृक्ष पर बार बार चढ़ने वाला हूँ।
2. पर्वत की चोटी के समान मेरी कीर्ति ऊँची हो।
3. सूर्य रश्मि की तरह मैं ऊँचा और पवित्र बनूँ।
4. मैं अमृतरूप हूँ तीक्ष्ण बुद्धि वाला हूँ।
5. परमात्मा ही मेरा सच्चा धन और मेरी उज्ज्वल शक्ति है।
6. मेरी आत्मा 'अक्षित' कभी नाश न होने वाली है।

वेद विद्या पढ़ने के बाद आचार्य शिष्य को अनुशासन के रूप में दीक्षान्त भाषण देता है-

सत्य बोलना। धर्माचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना।

आचार्य को जो प्रिय हो वह दक्षिणारूप में उसे देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना और प्रजा के सूत्र को मत तोड़ना। सत्य में प्रमाद न करना, धर्माचरण से प्रमाद न करना, जिस बात से तुम्हारा भला हो उससे प्रमाद न करना, अपनी विभूति (ऐश्वर्य) बढ़ाने में प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना।

संसार में जो देव गुणों में बड़े हैं और जो पितर आयु व सम्बन्ध में बड़े हैं उनके प्रति कर्तव्य पालन में प्रमाद न करना। माता की आज्ञा का पालन करना। पिता, आचार्य, अतिथि को पूज्य समझना। हमारे जो निन्दा रहित कर्म हैं उन्हीं को सर्वत्र करना दूसरों को नहीं। हमारे जो अच्छे आचरण हैं तुम उन्हीं का पालन करना अन्यो का नहीं।

हमसे श्रेष्ठ विद्वान जहाँ हों उनके उपदेशों और उनकी शिक्षाओं को ध्यान से सुनना और उस पर विश्वास करना। श्रद्धा से देना, अभ्रद्धा से देना, अपने कल्याण के लिए देना, लोक लाज से देना। परलोक के भय से देना और प्रेम से भी देना।

यदि किसी काम में सदेह पैदा हो जाय अथवा धर्माचार व लोकाचार में सदेह खड़ा हो जाय तो तुम्हारे आस पास धर्म कार्य में स्वतः प्रवृत्त, प्रेरणाओं वश प्रवृत्त, अरूक्ष (कीमल) स्वभाव के, सब पहलुओं पर विचार करने वाले ब्राह्मण (विद्वान) जैसे वरतें वैसा ही तुम वरतना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् के सार हैं। यही अनुशासन हमारी ओर से है, ऐसा ही आचरण करना, ऐसा ही अनुष्ठान करना।

(दीक्षान्त भाषण में गुरु ने शिष्य के जीवन को आलोकित करने में कुछ छोड़ा नहीं है। यदि शिष्य कर्म के इस आचरण को जीवन में उतारे तो कल्याण निश्चित है।)

इस उपनिषद् में भौतिक सृष्टि रचना के क्रम में पंच कोशों का वर्णन है।

पहला- अन्नमयकोश है। अन्न से ही हमारा शरीर बनता है। अन्न सब

महाभूतों में श्रेष्ठ है। सब औषधियों में अन्न को श्रेष्ठ कहा है। स्थूल शरीर की समस्त क्रियाओं के संचालन के लिये अन्न अत्यन्त आवश्यक है। दूसरा- प्राणमय कोष है। प्राण से जीवन है। प्राण ही सब प्राणियों की आयु है। तीसरा- मनोमय कोष है जिसके द्वारा जीव अपनी मानसिक प्रवृत्तियाँ अर्थात् सोचने विचारने का काम करता है। चौथा- विज्ञानमय कोष है। यह विज्ञानमय कोष विज्ञान से परिपूर्ण है। इसी से बुद्धि कार्यरत होती है। पांचवा- आनन्दमय कोष है जो आनन्द से परिपूर्ण है। आत्मा इन पांचों कोशों के अन्दर विद्यमान है। उसके स्वरूप को जानने के लिये अन्नमय से प्राणमय, प्राणमय से मनोमय, मनोमय से विज्ञानमय, विज्ञानमय से आनन्दमय कोश में व्यक्ति ध्यान के द्वारा प्रवेश करता है तभी वह अपने स्वरूप को जान जाता है।

ब्रह्म आनन्द का भंडार है। वह रस ही रस है। जिसे प्राप्त करके मनुष्य आनन्द को प्राप्त करता है। मनुष्य, गन्धर्व, देव, पितर, बृहस्पति आदि सब आनन्दों से ब्रह्मानन्द श्रेष्ठ है। उपनिषद् के तृतीय अध्याय में समझाया गया है कि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। अतः स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमशः चलना चाहिये। इस क्रम से जो जानता है वह ब्रह्म को जान लेता है। यह विद्या मनुष्य के हृदयाकाश में विद्यमान है जो इसे जानता है वह स्थिर बुद्धि का होकर महान हो जाता है।

उपनिषद् में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय किया गया है। भौतिक सुख सुविधाओं से सम्पन्न व्यक्ति निश्चिन्त होकर आध्यात्मिक उन्नति की ओर भी बढ़ सकेगा। जो व्यक्ति अपनी सांसारिक सम्पत्ति का उपयोग दूसरों के कल्याण के लिये करता है उसकी वाणी में कल्याण की भावना होती है उसके श्वास प्रश्वास में सबका मंगल होता है उसके हाथों में कार्यशक्ति और पैरों में शुभ कार्य के लिये गति होती है।

• •

(९) छान्दोग्य उपनिषद्

सामवेद का एक ब्राह्मण छान्दोग्य है। उसी के नाम पर यह छान्दोग्य उपनिषद् कहलाता है। इस उपनिषद् के प्रारंभिक भाग से लोगों को यह मालूम होता है कि सम्पूर्ण जगत में ईश्वर का साम्राज्य है और सूर्य चन्द्र आदि प्रायः सभी सांसारिक पदार्थ मानो उसी का गान कर रहे हैं। इसमें अनेक उपयोगी शिक्षाप्रद आख्यायिकायें हैं। इस उपनिषद् में मुक्ति का भी प्रकरण है।

पाँच भूतों का रस=सार पृथ्वी है, पृथिवी का सार जल है, जलों का सार अन्नादि औषधियाँ हैं। औषधियों का सार पुरुष है। पुरुष का सार उसकी वाणी है वाणी का सार ऋक (भगवान की स्तुति) है, ऋग्वेद का सार साम है। सामवेद का सार ओंकार नाम गायन है। अतः सारों का सार ओंकार अर्थात् परमात्मा का नाम है।

इस लोक का आश्रय आकाश है। आकाश नाम ईश्वर का भी है। व्यापकत्व आदि गुणों के पाये जाने से आकाश ब्रह्म को कहते हैं अर्थात् पृथिवी आदि सभी का अन्तिम आश्रय ब्रह्म ही है।

भोजन के अभाव में आपत्तिकाल में उपस्ति ने महावत का झूठा अन्न खा लिया किन्तु झूठा जल नहीं पिया क्योंकि जल का अभाव नहीं था। इससे स्पष्ट होता है कि साधारण काल के नियम और होते हैं तथा आपत्ति काल के दूसरे नियम होते हैं।

यज्ञ के उद्देश्य तीन होते हैं- ईश्वर विश्वास में दृढ़ता होना। सूर्य को समझना और उससे लाभ उठाना, अन्न को पैदा करना और उपयोग में लाना।

धर्म के स्कन्ध अर्थात् भाग तीन है- यज्ञ अध्ययन तथा दान पहला भाग, तप दूसरा भाग, ब्रह्मचर्य पालन तीसरा भाग।

पहले आदित्य उपासना का रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को बताया। प्रजापति ने मनु को और मनु ने प्रजाओं को बताया। ब्रह्मज्ञान का रहस्य

पिता अपने पुत्र को अथवा गुरु अपने प्रिय शिष्य को दे। परम श्रद्धावान मनुष्य ही आदित्य उपासना का अधिकारी होता है।

गायत्री मन्त्र ही सब सारों का सार है। वह भगवान को गाता है और उपासक को पाप से बचाता है। गायत्री की महिमा प्रधान है। गायत्री ही प्राणों में निवास करती है। उसका जप तथा गायन हृदय तथा प्राण से होना चाहिये। भूः का अर्थ है पृथिवी- स्थिति तथा शक्ति, भूवः का अर्थ है तेज प्रकाश आदित्यलोक, स्वः का अर्थ है ज्ञान तथा आनन्द। इन तीनों व्याहृतियों की उपासना से त्रिलोकी के आत्मा की प्राप्ति होती है।

जब तक इन्द्रियाँ बनी रहें यज्ञ कर्म करता रहे तो मनुष्य ऊँचा और रोग रहित हो जाता है। उपासना का रहस्य यह है कि जो उपासक अपने जीवन को यज्ञरूप जानता है और आत्मविश्वासी है उसके रोग संकल्प तथा शुभ भावना से नष्ट हो जाते हैं। उसके प्राण ही उसकी पालना करते रहते हैं।

महर्षि आंगरिस घोर ने श्रीकृष्ण को कर्मयोगोपासना बताते हुए कहा अन्त समय में उपासक कहे- हे मेरे आत्मा तू अखण्ड है, अविनाशी है, जीवन प्रशंसित है। अपने आत्मा को उद्बुद्ध कर।

सत्यकाम जाबाल के सत्य से प्रभावित हो गुरु ने उसे शिष्य बनाकर ब्रह्म का स्वरूप बताया। ब्रह्म चार कला वाला है।- एक कला पृथिवी, दूसरी कला अन्तरिक्ष, तीसरी द्यौ प्रकाशमय लोक, चौथी कला समुद्र है। तीनों लोकों में और सूक्ष्म तत्त्वों में भगवान सर्वत्र विद्यमान है। यह अनन्तोपासना है। जो भगवान को सर्वत्र विद्यमान और अनन्त समझकर उपासता है वह अनन्त कला वाला अविनाशी हो जाता है। ब्रह्म की सत्ता को सब पदार्थों का आश्रय मूल और जीवन जानना ही पूर्ण ज्ञान है। तदन्तर कुछ भी ज्ञेय (जानने योग्य) शेष नहीं रह जाता।

अश्वपति और उद्दालक आदि ऋषियों की वार्ता में अश्वपति ने बताया- जो उपासक इस सर्वागम्य, सर्वत्र विद्यमान वैश्वानर आत्मा को

आराधता है वह एक अखण्ड भगवान का उपासक मुक्त होकर सर्वत्र आनन्द में रहता है। जो वैश्वानर उपासना को जानता हुआ हवन (अग्निहोत्र) करता है उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं।

भगवान ही सारे कारणों का आश्रय है और सब आत्माओं का आधार है। परमेश्वर में सारे कारण विलक्षण और अचिन्तनीय रूप से रहते हैं। इस कारण वह सबका मूल कहा गया है।

इस उपनिषद् में अनेक आख्यायिकायें हैं जिनमें आत्मा की सत्ता, आपद्धर्म, जिज्ञासा और धैर्य में आत्मज्ञान की पात्रता, राजा ब्रह्मविद्या जानते थे, आत्मवित ही शोक से छूट सकता है, दृढ़ संकल्प का बल होता है आदि में अनेक शिक्षायें दी हुई हैं जिनसे साधक को प्रेरणा प्राप्त होती है।

उपनिषद् समाप्त करते उपनिषद्कार ने प्रकट किया है कि ब्रह्म विद्या को ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने मनु को और मनु ने सभी को दिया। इस शिक्षा के ग्रहण करने के बाद प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है—

- (1) नियम पूर्वक वेदों को पढ़ें।
- (2) गुरु की सेवा करें।
- (3) समावर्तन करके गृहस्थ में प्रवेश करें।
- (4) कुटुम्ब के साथ साफ सुथरी जगह में रहकर स्वयं स्वाध्याय करें तथा अन्यो को पढ़ायें।
- (5) अहिंसा का पालन कर इन्द्रियों को आत्मा में स्थापित कर अन्तर्मुखी होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर आवागमन के चक्र से छूट जायें।

आख्यायिकायें

आत्मा की सत्ता—

आत्मा में मरण भाव नहीं है। वह सदा अमर सत्ता है। अविनाशी

आत्मा परम सूक्ष्म है। आत्म तत्त्व ही परम सत्य है। 'तत्त्वमसि' शब्द का अर्थ है आत्मा, ईश्वर ही तत्त्व है किन्तु नवीन वेदान्ती 'तत्' वह ब्रह्म तू है ऐसा अर्थ करके जीव की ब्रह्म से एकता बताते हैं। यह असत्य है। जीव ब्रह्म कभी एक नहीं हो सकते। ये दोनों प्रथक-प्रथक अनादि सत्तायें हैं।

इस लोक में अज्ञान और गाढ़तर कर्म बन्धन से घिरे हुए जीव व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश और मशक आदि जो जो होते हैं तब वे ही रहते हैं। वह अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं अनुभव करते। अपने शुद्ध साक्षी स्वरूप की प्रतीति जीव को मनुष्य जन्म में ही होती है। इसीलिये मनुष्य जन्म की प्राप्ति को बड़े भाग्यवश माना जाता है और मनुष्य योनि मनुष्येतर सभी जीवधारियों से श्रेष्ठ समझी जाती है।

जगत के मूल आधारभूत सत् तत्त्व के लिये अनेक उदाहरण हैं—

- (1) जैसे भौरे अनेक पुष्पों से रस लाकर एकत्रित करते हैं किन्तु उन्हें यह विवेक नहीं होता कि कौन रस किस पुष्प या वृक्ष का है। उसी प्रकार समस्त प्रजायें सत् ब्रह्म में रह कर उसकी सत्ता से ही सम्पन्न हैं। वे प्रलय में उसमें लीन होकर भी वासनावश पुनः व्याघ्रादि जन्तु बनते हैं। सबसे सूक्ष्म सत्ता परमात्मा है जिसमें हमारी आत्मा भी है। इसीलिये कहते हैं कि परमात्मा जगत के अणु अणु— कण कण में विद्यमान है। उसकी सत्ता से परे कुछ भी नहीं है।
- (2) नदियां समुद्र से ही निकलती हैं। नाना दिशा से आकर समुद्र में ही मिलती हैं। उनका भेद नहीं रहता। इसी प्रकार सब सत् से आते हैं, उसे जानते नहीं। हम अपने वासनावश व्याघ्रादि बनते हैं। सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है।
- (3) वृक्ष के किसी भाग पर चोट करने से रस बहता है क्योंकि उसके सब भाग में जीव-प्राण है। जीव जिस भाग को छोड़ देता है वह

शाखा सूख जाती है। जब वह सब वृक्ष को छोड़ देता है तब सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है। इसी प्रकार शरीर जीव से प्रथक होकर मर जाता है। अतः आत्मा ही सूक्ष्म सत् तत्त्व है।

- (4) वट वृक्ष का बीज लेकर तोड़ो देखो उसमें कुछ भी नहीं दीखता। उस न दीखने वाली सूक्ष्मता में वट वृक्ष छिपा है। ठीक इसी प्रकार जगत का वट बीज भी अति सूक्ष्म है। वही सत् है किन्तु वह दीख नहीं पाता।
- (5) बर्तन में पानी लेकर उसमें नमक घोल दें। पानी सर्वत्र नमकीन हो जावेगा किन्तु घुलने पर नमक दीखता नहीं किन्तु पानी में नमक की सत्ता है। वह सूक्ष्म हो जाने से दीखता नहीं वैसे ही ईश्वर या आत्मा की सत्ता है पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से दीखता नहीं।
- (6) वह सूक्ष्म तत्त्व ज्ञेय है। जाना जा सकता है। जैसे किसी की आँख बाँधकर जंगल में छोड़ दें उसे रास्ता न मिलेगा किन्तु आँख खुलने पर वह पूछ-पूछ कर रास्ता पाकर नगर में आ जाता है वैसे ही ज्ञानी पूछ-पूछ कर सत् तत्त्व को जान लेता है। जब तक उसे ज्ञान नहीं तभी तक आत्मतत्त्व उससे ओझल रहता है।
- (7) मरणासन्न व्यक्ति से लोग पूछते हैं तुम मुझे पहिचानते हो मैं कौन हूँ? जब तक उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परम देवता आत्मा में लीन नहीं होता तब तक वह पहचानता है। जब लीन हो जाता है तब नहीं पहचानता। वह परम देवता आत्मा ही सत् है।

एक समय कृष्ण के गुरु आगिरस घोर ने कृष्ण को उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय हो उसे तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये-

1. त्वं अक्षितमसि। (हे ईश्वर आप अक्षित हैं)
2. त्वं अच्युतमसि। (हे ईश्वर आप अविनश्वर हैं)

3. त्वं प्राण सशितमसि। (हे ईश्वर आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं।)

श्रीकृष्ण उक्त उपदेश को सुनकर अपिपास हो गये। अब उन्हें किसी उपदेश सुनने की इच्छा न रही। इसका कारण यह था कि कृष्ण ने समझ लिया कि अन्त में 'त्वं अक्षितमसि' आदि वाक्य मुख से तभी निकल सकते हैं जब जीवन के पहले भाग में प्रभु का स्मरण और जप किया गया हो। अतः ऋषि घोर का उक्त उपदेश केवल अन्त समय का ही कर्तव्य नहीं था, अपितु वह तो सम्पूर्ण जीवन का कार्यक्रम था। जब सम्पूर्ण जीवन का कार्यक्रम आचार्य ने बता दिया तब फिर कृष्ण को क्या आवश्यकता थी कि वह और किसी से उपदेश या शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा करते।

आपद्धर्म

एक बार चक्र नामक ऋषि का पोता उषस्ति टिड्डियों व ओलों की वर्षा से नष्ट कुरु देश में निर्धन अवस्था में अपनी भार्या के साथ हाथियों के रखने में समर्थ किसी धनी शासक के ग्राम में जा बसा। वहाँ वह भूख से पीड़ित था। उसने उबले हुए उड़द खाते हुए एक हाथी के स्वामी को देखा और उससे भिक्षा मांगने लगा। हाथी का स्वामी बोला- इस समय जो ये उड़द मेरे वस्त्र में रखे हैं इनमें से मैं स्वयं खा रहा हूँ अतः ये मेरे झूठे हैं। मेरे पास इनके अतिरिक्त और उड़द नहीं हैं।' उषस्ति ने यह जानकर भी कि उड़द झूठे हैं मांग लिये क्योंकि वह भूखा था। हाथी वाले ने उड़द दे दिये। जब उषस्ति उनमें से कुछ खा चुका तो हाथी वाले ने कहा- अच्छा अब जल पी लो। उषस्ति बोला-यह तेरा झूठा है।

ऋषि का वचन सुनकर हाथीवान को आश्चर्य हुआ कि उन्होंने झूठे उड़द तो माँगकर खा लिये किन्तु मेरे स्वयं कहने पर झूठा पानी पीने से मना कर दिया। उसने कहा- क्या उड़द झूठे नहीं हैं ? उषस्ति ने उत्तर में कहा- इन उड़दों को मैंने जीवन रक्षा के लिए खाया है। मैं

जानता हूँ कि उड़द झूठे हैं किन्तु मैं भूखा होने से यदि इन उड़दों को न खाऊँ तो जीवित न रह सकूँगा किन्तु जल तो मुझे सर्वत्र सुलभ है फिर तेरा झूठा जल क्यों पीऊँ ?

उषस्ति ने कुछ उड़द बचाकर अपनी भार्या को दिये जिससे उसकी भी प्राण रक्षा हो सके।

भोजन के अभाव में प्राण संकट के समय, आपत्ति काल में उषस्ति ने महाबत का झूठा अन्न खा लिया। यह आपद्धर्म था। इसमें दोष न था। जल का अभाव न था इसलिये झूठा जल नहीं पिया। इससे स्पष्ट होता है कि साधारण काल के नियम और होते हैं तथा आपत्ति काल के कुछ और।

(इससे शिक्षा मिलती है कि हमको साधारणकाल और आपत्तिकाल के नियमों को एक जैसा नहीं मानना चाहिये। झूठा अन्न खाकर झूठा पानी पीने में क्या दोष था ? सामान्य व्यक्ति इसका अन्तर न समझेगा किन्तु आपद्धर्म जानने वाला इसका अन्तर जान सकेगा।)

जिज्ञासा और धैर्य में आत्मज्ञान की पात्रता

प्रजापति ने एक बार यह घोषणा की कि-आत्मा अजन्मा अमर तथा अविनाशी है। वह ही सत्य एवं नित्य है वह मनुष्य का एक मात्र लक्ष्य है जो उसे प्राप्त करना है। उसका सम्पूर्ण ज्ञान पा लेना ही सच्ची वास्तविकता है। उसे जान लेने पर तीनों लोकों की सम्पदायें सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

उक्त घोषणा को सुनकर देवता तथा असुर दोनों ही इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये लालायित हो उठे। यह निश्चय हुआ कि दोनों वर्ग अपना-अपना एक-एक प्रतिनिधि भेजें जो प्रजापति से आत्मज्ञान सीखकर आये और अपने वर्ग में सबको सिखाये।

देवताओं की ओर से इन्द्र तथा असुरों की ओर से विरोचन हाथ में समिधायें लेकर प्रजापति के यहाँ पहुँचे। प्रजापति ने पूछा-कहिये मित्र

आज इधर कैसे आना हुआ ?

इन्द्र ने विनत होकर कहा- 'आप आज हमें मित्र कहकर सम्बोधित न करें। हम तो आपके शिष्य बनकर आत्मज्ञान सीखने हेतु आये हैं।'

प्रजापति ने दोनों को अपने यहाँ ठहराया और 32 वर्ष तक ब्रह्मचारी की तरह रहने को कहा। दोनों यम-नियमों का पालन करते हुए वहीं रहने लगे। जब 32 वर्ष पूरे हो गये प्रजापति ने दोनों को अपने सम्मुख करके कहा- 'आँख की पुतली में अपना प्रतिबिम्ब देखो। जल में अथवा दर्पण में देखो। यह जो आत्मा है सर्वत्र व्याप्त है तुम्हारे शरीर में भी।

दोनों ने अपने-अपने शरीर को खूब सजाया और अपने-अपने वर्ग में पहुँचे। विरोचन अपने दल में पहुँचे सभी ने स्वागत किया। सभी उत्सुक थे कि विरोचन आत्मा का ज्ञान लेकर आये हैं, हमें भी बतायेंगे। विरोचन ने सबको कहना आरम्भ कर दिया-यह शरीर ही आत्मा है। इसे खूब सुन्दर बनाओ। सुन्दर वस्त्र आभूषण पहनो। सुख चैन का जीवन व्यतीत करो। इसी की प्रशंसा करो और इसी की आराधना भी करो। उस भाषण का ऐसा प्रभाव हुआ कि असुर शरीर सुख में डूब गये। आज भी वही स्थिति है असुरों को सच्चा ज्ञान नहीं कि आत्मा क्या है ? उसके स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है ? वह शरीर सुख को ही परम आनन्द माने हुए हैं। भौतिकता में डूबे हुए हैं और स्वार्थ सिद्धि में संलग्न हैं।

उधर इन्द्र प्रजापति की बात को सुनकर सन्तुष्ट नहीं हुए और शीघ्र ही वापस आकर पुनः प्रजापति से कहने लगे- 'मेरी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई है। यदि शरीर ही आत्मा है तो वह अनश्वर तथा अविनाशी कैसे हो सकता है ? शरीर तो मरणधर्मा है। कृपया मेरी जिज्ञासा को शांत कर मुझे आत्मज्ञान प्रदान करें।'

प्रजापति बोले- इन्द्र ! तुम्हारी यह जिज्ञासा ही तुम्हें लक्ष्य तक पहुंचा देगी। तुम अब 32 वर्ष तक मेरे यहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक और ठहरो।

निर्देशानुसार इन्द्र 32 वर्ष तक यम नियमों का पालन करते वहीं ठहरे अवधि समाप्त होने पर प्रजापति ने बताया- 'स्वप्न चेतना में जो कुछ भ्रमण करता है- वही आत्मा है? इन्द्र इसे सुनकर चले तो गये किन्तु पूर्ण संतुष्टि नहीं हुई और आधे रास्ते से पुनः लौटकर अपनी शंका प्रकट की भला स्वप्न में की गई अनुभूति आत्मा कैसे हो सकती है? स्वप्न में तो दुख भी होता है, पीड़ा भी होती है अन्य भी कई इन्द्रियजन्य अनुभूतियाँ होती हैं, जबकि आत्मा तो सुख-दुख से परे है।

प्रजापति इन्द्र की जिज्ञासा पर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए बोले- 'तुम्हारी शंकायें बिल्कुल ठीक हैं। तुम सत्य कहते हो। अब तुम 32 वर्ष तक यहीं और निवास करो तब तुम्हें आगे का ज्ञान दूँगा।'

इन्द्र ने 32 वर्ष तक प्रजापति के यहाँ फिर ब्रह्मचर्य व्रत, यम-नियम का पालन करके व्यतीत किये और अवधि पूर्ण होने पर उनके सम्मुख पहुँचे। प्रजापति ने बताया- 'अत्यन्त प्रगाढ़ निद्रा में जो स्वाप्नी अखण्ड आनन्द की अनुभूति करता है, वही आत्मा है।' यह सुनकर इन्द्र देवलोक चले तो गये किन्तु मन अब भी शांत नहीं हुआ। जिज्ञासा तृप्त नहीं हुई। चेतना उद्बलित थी। अन्ततः वह देव लोगों को कुछ भी सम्भाषण न कर वापस प्रजापति के यहाँ ही लौट आये और उनके सम्मुख खड़े होकर कहने लगे- भगवन ! मुझे अभी भी संतोष नहीं हुआ है। मेरी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई है- 'स्वप्न विहीन गहरी निद्रा में जीव का निज का कोई अनुभव नहीं होता। अपने बारे में उसे कोई चेतना नहीं होती तो फिर यह चेतना विहीन प्राणी जिसे सदा प्रकाशमय स्वात्म कहा जाता है आत्मा कैसे हो सकती है ?

इस बार की जिज्ञासा और शंका से प्रजापति अत्यन्त प्रभावित हुए और कहा तुम निरंतर जिज्ञासारत हो अतः अब केवल 5 वर्ष यहीं और व्रती जीवन व्यतीत करो। 5 वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर प्रजापति ने इन्द्र को अपने सम्मुख बिठाकर आत्मज्ञान देना प्रारम्भ किया- 'हे इन्द्र ! तुम्हारी यह अत्यन्त उत्कण्ठा तथा प्रबल जिज्ञासा ही तुम्हारी पात्रत्व की

कसौटी है। इस प्रकार बिना सच्ची श्रद्धा के विश्वास भी नहीं होता। तुमने अपनी पात्रता सिद्ध कर दी है। अब आत्मज्ञान सुनो- 'यह शरीर तो आत्मा का क्षणिक निवास स्थान है। जब तक आत्मा शरीर में आबद्ध है तब तक इसका सम्बन्ध बांछनीय सुख-दुख तथा अच्छाई-बुराई से जुड़ा प्रतीत होता है। जिस प्रकार अनन्त आकाश में कुछ क्षणों के लिए बिजली, बादल तथा वायु अपना प्रभाव दिखाते और चले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार विभिन्न शरीर भी कुछ काल को आत्मा को धारण करते और फिर नष्ट होकर चले जाते हैं। आत्मा न कभी मरता है न जन्मता है। मुक्त होने पर वह ज्यों का त्यों बना रहता है और असीम लोकों में उन्मुक्त भ्रमण करता रहता है।'

अब इन्द्र की जिज्ञासा तृप्त हुई। उन्हें संतोष हुआ और सुरलोक में पहुँच कर सभी देवों को उन्होंने 101 वर्ष के कठिन ब्रह्मचर्य व्रत, यम-नियम पालन से प्रजापति से जो ज्ञान अर्जित किया था प्रदान किया। सच्चे मन से परमार्थ में रत देवताओं ने अपनी स्वच्छ मनोभूमियों में उसे ऐसे ही ग्रहण किया जैसे सीप स्वाति नक्षत्र की बूंद को ग्रहण करती है।

उक्त आख्यायिका से आत्मज्ञान की कसौटी तथा धैर्य का परिणाम स्पष्ट दृष्टिगत होता है। असुरों के प्रतिनिधि विरोचन ने धैर्य खोकर आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया जबकि देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र ने घोर परिश्रम और धैर्य से आत्मज्ञान जैसे अमूल्य रत्न को प्राप्त किया जिसके प्राप्त कर लेने पर कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। आख्यायिका सुर और देवों के अन्तर को भी स्पष्ट करती है।



राजा ब्रह्म विद्या जानते थे

एक समय अरुण मुनि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश के राजा प्रवाहण के पास गया। राजा ने उससे प्रश्न किया- 'हे मुनिकुमार ! क्या तुम जानते हो कि जीव मर कर कहाँ जाता है और फिर लौटकर इस लोक में कैसे आता है ?' श्वेतकेतु ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपने को अज्ञानी मानकर पिता के यहाँ लौटकर कहने लगा- पिताजी आपने कहा था कि तुमको शिक्षा दे दी है किन्तु मैं तो राजा प्रवाहण के एक भी प्रश्न का उत्तर न दे सका। पिता ने प्रश्न पूछे। श्वेतकेतु ने उनके साराँश बता दिये। पिता बोला- मुझे जो कुछ आता था वह सब मैंने तुम्हें बता दिया कुछ छिपा नहीं रखा। अब चलो राजा के पास चलें और उन प्रश्नों का उत्तर जानें। पुत्र ने स्वयं साथ न जाकर पिता को ही जाने का आग्रह किया।

अरुणमुनि राजा प्रवाहण के पास पहुँचे। राजा ने मुनि का स्वागत किया। राजा बोला- मुनिवर आप कैसे पधारे हैं ? कोई वर माँगो। मुनि बोले- राजन मेरे पास धन, सम्पत्ति सब कुछ है। मुझे कुछ नहीं चाहिये। आप केवल उन प्रश्नों के उत्तर देने की कृपा करें जो आपने कुमार से पूछे थे।

राजा ने मुनि की बात सुनकर कहा- यदि उस ज्ञान की प्राप्ति करनी है तो गुरु शिष्य भाव जानो। मुनि राजा का शिष्य बनने को तैयार हो गये। राजा बोला- मुनिवर ! आप आदर के योग्य हैं। जो विद्या पहले ब्राह्मणों के पास थी अब वह क्षत्रियों के पास है। वह मैं आपको कहता हूँ।

‘जब देवजन श्रद्धा से अग्नि में आहुति डालते हैं तो उससे आकाश में जल उत्पन्न होता है। जब श्रद्धा से होम करते हैं तो जल के मेघ वृष्टि करते हैं। उस वृष्टि से पृथ्वी से अन्न उत्पन्न होता है। मनुष्य उस अन्न को खाते हैं उससे वीर्य बनता है। जब उस वीर्य को

योनिरूप अग्नि में होमते हैं तो उस आहुति से मनुष्य का जन्म होता है। वह मनुष्य कर्मानुसार जीवित रहता है। जब मरता है तब उसके मृतक शरीर को बन्धु जन अग्नि की भेंट कर देते हैं। शरीर के भीतर जो आत्मा है वह नहीं मरता उसको वायु और सूर्य की किरणें वायुलोक में ले जाते हैं।'

जो मनुष्य जीवन में सत्याचरण करते हैं, साधना करते हैं, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करते हैं, प्रभु की आराधना करते हैं उनका आत्मा प्रकाश के मार्गों से जाता है।

जो मनुष्य उत्तम कर्म करते हैं, तप करते हैं, दान देते हैं वे पितृयान मार्ग से जाते हैं उनको कर्मानुसार फिर जन्म मिलता है। वे जन्म मरण के बन्धन से नहीं छूटते।

तीसरे वे मनुष्य हैं जो पाप दुष्कर्म करते हैं वे उक्त दोनों मार्गों से वंचित रहकर भोग योनि, कीट, पतंग, पशु पक्षी आदि बनते हैं। ये विभिन्न योनियों में घूमते अपने दुष्कर्मों की सजा पाते हैं।

मुनि अरुण राजा प्रवाहण का उत्तर सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने लौटकर अपने पुत्र श्वेतकेतु को यह सम्पूर्ण ज्ञान सुनाकर तृप्त कर दिया।

वस्तुतः राजा भी ब्रह्मविद्या जानते थे।



आत्मवित् ही शोक से छूट सकता है

एक बार नारदजी ऋषि सनत्कुमार की सेवा में उपस्थित हुए और अपनी सीखी हुई विद्याओं का परिचय देते हुए कहा- भगवन ! मैं शब्दवित् हूँ आत्मवित् नहीं। मैंने सुना है कि आत्मवित् होने से मनुष्य शोक से छूट जाता है। कृपया इस सम्बन्ध में मेरा मार्ग दर्शन करें।

ऋषि सनत्कुमार ने नाम, वाणी, मन, संकल्प आदि के सम्बन्ध में अनेक शिक्षायें देते हुए कहा-

मनुष्य को सदैव वेद की शिक्षा के अनुसार आदर्श जीवन के मार्ग पर चलना चाहिये। वेद झूठ को छोड़कर सत्य ग्रहण करने की शिक्षा देता है। अतः मनुष्य जीवन का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है। सत्य साधन और साधक दोनों का काम देता है। ईश्वर जीव और जगत का नियंत्रणकर्ता होने से सत्यम् है। वह ईश्वर सत्य अर्थात् जीव और जगत के द्वारा प्राप्त हो सकता है। अतः आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ईश्वर को जो जीव के अन्तर्गत है प्राप्त करना चाहिये। सत्य की प्राप्ति हेतु तीन कर्तव्य हैं-

- (1) मनन- इन्द्रिय और मन के द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना।
- (2) श्रद्धा- सत्य को मात्र जानना नहीं अपितु सत्यज्ञान का ग्रहण (हृदयाकित) करना।
- (3) विज्ञान की प्राप्ति- इन्द्रियों द्वारा नहीं आत्मा द्वारा प्राप्त करना। जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है उसे बोध कहा जाता है किन्तु जो ज्ञान आत्मा द्वारा प्राप्त होता है उसे विज्ञान कहा जाता है।

इन साधनों से रुचि प्रेम उत्पन्न करते हुए निष्ठापूर्वक मोक्ष मार्ग पर चलते हुए प्रयत्नशील मनुष्य भूमा परमेश्वर को प्राप्त होता है। जब मनुष्य परमात्मा के अतिरिक्त न किसी दूसरी वस्तु को देखता है, न सुनता है, न जानता है उस अवस्था को भूमा कहा जाता है। भूमा के

प्राप्त होने पर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। 'सुखम्' शब्द का अर्थ होता है- सु (अच्छी) खम् (इन्द्रियां) अच्छी इन्द्रियां बना लेने से ही सुखी हो सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त साधनों पर आचरण करने से ही मनुष्य शब्द वित् नहीं आत्मवित् होकर समस्त दुखों से छूट जाता है।

शब्दवित् पाठ मात्र है। पाठ मात्र से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। कल्याण के लिये पाठ को आत्मवित् करना होगा। जब मनुष्य ज्ञान उपलब्ध करके उसे हृदय की वस्तु बना लेता है, उस पर आचरण करता है तभी वह आत्मवित् होता है और वह ज्ञान उसके लिये कल्याण का साधन बनता है।

महाभारत में एक घटना आती है। गुरु द्रोणाचार्य ने अपने सभी शिष्यों को एक पाठ दिया- 'क्रोधं मा कुरु' गुस्सा न करो। दूसरे दिन पाठ स्मरण पूछा गया तो सबने पाठ याद करने की स्वीकृति दिखाई केवल एक युधिष्ठिर थे जिन्होंने कहा कि उन्हें पाठ याद नहीं हुआ। उन्होंने उस समय तक प्राप्त इस पाठ को शिक्षा नहीं कहा जब तक अपना आचरण उसके अनुकूल नहीं बना लिया।

वास्तव में शिक्षा किसी विषय या पाठ को रट लेना नहीं है। वह तो शब्दवित् ज्ञान कहा जायगा किन्तु शिक्षा प्राप्ति का तात्पर्य तभी पूरा माना जायेगा जब प्राप्त शिक्षा को शिक्षार्थी हृदयंगम कर ले और उसे अपने क्रियात्मक आचरण में भी लावे।

नारद ने अनेक ग्रन्थ पढ़ लिये थे किन्तु उनका आचरण उनमें वर्णित शिक्षा के अनुकूल न था। इसी कमी को पूरा कराने के लिये वह ऋषि सनतकुमार की सेवा में उपस्थित हुए।

(उपनिषद् की यह आख्यायिका यदि हमारे जीवन में प्रेरणा उत्पन्न कर दे तो हम शब्दवित् (कोई शब्द ज्ञान) से आत्मवित् (आचरण सम्पन्न) विद्यावान बनकर भूमा प्रभु की प्राप्ति कर सुखी हो सकते हैं।



दृढ़ संकल्प

महिदास ऐतरेय यज्ञ कर रहा था। उसका यज्ञ 116 वर्ष की अवस्था तक पूर्ण होना था। उसके स्वास्थ्य की दुर्बलता देखकर वैद्यों ने कहा- महिदास इतने दिनों तू जीवित नहीं रह सकता इस यज्ञ को छोड़ दे। महिदास आत्मज्ञानी था। वह जानता था मनुष्य अपने संकल्प से बनता है। वह पूर्ण विश्वास के साथ कहने लगा- हे मेरे रोग ! मेरे शत्रु मुझे क्यों दुखी करता है ? तेरे किसी भी आक्रमण से मैं नहीं मरूंगा।'

छान्दोग्य का ऋषि कहता है- महिदास ने 116 वर्ष जीवित रहकर यज्ञ पूर्ण करने का संकल्प किया था। वह पूरे 116 वर्ष जीवित रहा। वस्तुतः यह पुरुष सचमुच यज्ञ है। जीवन का उपाय यज्ञ ही है। उस यज्ञ के तीन सवन हैं- प्रातः, माध्यन्दिन, सांध्य। मनुष्य का जीवन यज्ञरूप होकर दूसरों के उपकार के लिये विद्यमान रहकर तीन अवस्थाओं से पार होता है-

- (1) मनुष्य 24 वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहे।
- (2) उसके बाद 44 वर्ष तक गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम में रहे।
- (3) फिर जब जीवन की संध्या आ जावे तो 48 वर्ष तक सन्यास आश्रम में रहे। इस प्रकार संकल्पवान होकर 116 वर्ष का जीवन होगा।

मनुष्य अपने को यज्ञ रूप बनाले तो उसका दृढ़ संकल्प सफल होता है। इसी को आत्मप्रेरणा (Auto suggestion) कहते हैं। महिदास अपने जीवन को निरन्तर प्रेरणा देता रहा और रोगी होते हुए भी दृढ़ संकल्प के आधार पर 116 वर्ष जीवित रहा।

इन तीनों सवन को यज्ञ के तीन भाग कहते हैं-

(1) प्रातः सवन-दीक्षा- ऐसी अवस्था जिसमें तप करना है। भोजन, पानी, रहने की समुचित व्यवस्था न होने पर भी ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करते जाना। ब्रह्मचर्य का धारण कर लक्ष्य की ओर बढ़ना- कष्ट, क्लेश, दुखों का सहन करना ही दीक्षा है।

(2) माध्यन्दिन सवन-उपसद- आनन्द, सुख, आराम से हंसते अपना तथा दूसरों का भला करते, कमाते स्वर्च करते हुए आगे बढ़ते जाना।

(3) सांध्य सवन-दक्षिणा- केवल दूसरों के कल्याण के लिए जीवित रहना। अपना समय, धन, शक्ति और सर्वस्व लोक कल्याण में लगा देना। संसार को अपना परिवार समझकर उसके उपकार के लिये प्रयत्न करते रहना सांध्य सवन कहलाता है। यही जीवन का अंतिम उद्देश्य प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

उक्त तीनों बातें दीक्षा, उपसद और दक्षिणा जिस जीवन में हैं वह यज्ञमय जीवन है। ऐसे व्यक्ति का दृढ़ संकल्प कभी विफल नहीं होता। संसार में विभिन्न श्रेणियों के व्यक्ति होते हैं। उनमें से एक श्रेणी में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं-

(1) चाल मस्त- जिनकी चाल में मस्तानापन होता है।

(2) माल मस्त- जो माल होने पर मस्तानापन दिखाते हैं। माल न होने पर रोना दिखाते हैं।

(3) हाल मस्त- जो हर हाल मस्त रहते हैं। उनका कहना होता है- निराशा की कोई बात नहीं। दुखों का कभी तो अन्त होगा। उन्हें ईश्वर ने प्रसन्न रहने के लिये ही बनाया है। वह

कहते हैं- राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है। यां यूं भी
वाह वाह है और बूँ भी वाह वाह है।

अतः अपनिषद् सुन्दर शब्दों में निर्देश करता है- अपने विचार
को छोटा न बनाओ। आशावादी बनकर जिस क्षेत्र में जाओगे सफलता
ही प्राप्त होगी। आशावादी को कोई रोग, कष्ट, विवशता, निर्धनता आदि
बाधा सफल होने से रोक न सकेगी।

मनु महाराज कहते हैं- इच्छा का मूल संकल्प है। परोपकार
के कार्य भी संकल्प के बिना नहीं हो सकते। व्रत, यम तथा धर्म का
पालन भी दृढ़ संकल्प से ही संभव होता है।

महापुरुषों के जीवन वृत्त बताते हैं कि वे आत्मविश्वास और दृढ़
संकल्प के सहारे ही आगे बढ़े और साधारण से उन्नत होकर महापुरुषों
की कोटि में गिने जाने लगे। अतः सदैव दृढ़ संकल्प करके आगे बढ़ना
चाहिये।



(१०) बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। ग्यारह प्रामाणिक उपनिषदों में यह सबसे बड़े आकार का है। इसमें अरण्यों (जंगलों) में स्थित ऋषि कुमारों और महाराजा जनक की विद्वत् सभा में होने वाले मनोरम सम्वादों का समीकरण है। इसलिये इसे बृहदारण्यक कहते हैं। इसमें ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त कुछ और विषयों का भी समावेश हुआ है।

जगत् से लाभ उठाने वाले व्यक्ति का धर्म है कि वह ईश्वर के लिये श्रद्धा और प्रेम भावना उत्पन्न करे। जगत् की उत्पत्ति, विकास, द्वास और विनाश के नियम नियत हैं किन्तु ईश्वर के ज्ञान-बल-क्रिया सभी स्वाभाविक हैं।

दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने के लिये ईश्वर का आश्रय ग्रहण करते हुए शुभ कर्मों का करना आवश्यक है। मृत्यु के बन्धन के मूल कारण स्वार्थ और पाप हैं। इनके छोड़ देने से मनुष्य मृत्यु के पार हो जाया करता है इसीलिये प्रभु से प्रार्थना की गई है “असतो मा सद्गमयः..... असत् से मुझे सत्य की ओर, अंधेरे से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।”

प्राण सारे शरीर में प्रविष्ट रहता है। समस्त इन्द्रिय और बाकी शरीर के अवयव सभी उसके अन्दर समाविष्ट रहते हैं। प्राण छोटे से कीट मात्र के शरीर से लेकर बड़े प्राणी हाथी के शरीर तक में समान स्थित हुआ करता है। जिस प्रकार प्राण जीती जागती दुनियां में रहकर दुनियां को जीती जागती बना देता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी जीता जागता बना रहता है। प्राण कभी थकता नहीं, न काम बन्द करता है।

जीव को पुरुष इसलिये कहते हैं कि उसने (पुरु) पहले पापों

को (उरु) जला रखा है। अतः पापी व्यक्ति पुरुष नहीं कहला सकते।

प्रारम्भ में केवल एक ब्राह्मण वर्ण था किन्तु मनुष्य समाज की उन्नति के लिये चार वर्ण उत्पन्न किये गये किन्तु जब तक वे अपने कर्तव्य कर्मों को न समझें और उसका आचरण न करें तब तक संसार की उन्नति नहीं हो सकती इसलिये धर्म की रचना हुई। धर्म बलों का बल है। धर्म सत्य और सत्य धर्म है। संसार में धर्म की इससे उत्तम परिभाषा नहीं हो सकती।

संसार में मनुष्य कहलाने वाले प्राणियों को पंचयज्ञ करके सब प्राणियों का आश्रय स्थान बनना चाहिये। संसार में दो मार्ग कहे गये हैं 1. प्रेय मार्ग 2. श्रेय मार्ग। प्रेय मार्ग के पथिक के लिये स्त्री, संतान, धन, कर्म चार साधन चाहिये किन्तु श्रेय मार्ग के पथिक के लिये ये चारों वस्तुयें वाणी, प्राण, चक्षु आदि के रूप में अन्दर ही प्राप्त होती हैं।

जैसे मकड़ी अपने भीतर मौजूद तन्तु समूह से जाला बनाकर उसमें विचरण करती है। इसी प्रकार ब्रह्म ने अपने सर्व आधारत्व से अपने भीतर मौजूद प्रकृति से समस्त प्राणियों के शरीर, समस्त सूर्यादि लोक, समस्त देव और भूतों को उत्पन्न किया और इस उत्पन्न ब्रह्मांड में वह अपने सर्वव्यापकत्व रूप से ओत प्रोत हो रहा है। अतः समस्त प्राण रखने वाला जगत् सत्य है और उस सत्य का भी सत्य ब्रह्म निमित्त कारण है।

ईश्वर असीम गुण कर्म और स्वभाव वाला है। उसे कोई पूर्णतया अब तक न जान सका और न आगे जान लेने की संभावना है। यह विलक्षण सत्ता है। उसकी उपमा नहीं। वह सत्य का सत्य कहा गया है।

इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद से आत्मज्ञान की अत्यन्त सुन्दर शिक्षा दी गई है। मैत्रेयी आत्मज्ञान की जिज्ञासु थी उसने अपने पति याज्ञवल्क्य से कोई साँसारिक पदार्थ लेना स्वीकार न कर

आत्मज्ञान प्राप्ति की कामना की। ऋषि ने उसे बताया- यह आत्मा समस्त प्राणियों का मधु और समस्त प्राणी इस आत्मा के मधु हैं। इस आत्मा में जो तेजस्वी अमर पुरुष है वही परमात्मा है। यह ब्रह्म ही सब कुछ है।

ईश्वर की रचनाओं पर ध्यान देने से मनुष्य के हृदय में ईश्वर विश्वास बढ़ता है और उसके प्रति श्रद्धा के उच्च भाव उत्पन्न होते हैं। उसके व्यापकत्व का निश्चयात्मक ज्ञान होने से मनुष्य पापों से बचता है।

राजा जनक उच्चकोटि के आत्मज्ञानी होने के कारण विदेह कहलाते थे। उन्हें आत्मज्ञान की तल्लीनता में शरीर का भी ध्यान नहीं रहता था इसीलिये वह विदेह प्रसिद्ध थे। उनकी सभा में विभिन्न ऋषियों के सम्वादों से उत्तम अध्यात्म दिद्या प्रकट की गई है जो इस उपनिषद् में प्रस्तुत की गई है।

अश्वल ने प्रश्न पूछा- जब सब कुछ मृत्यु की पहुँच में और मृत्यु से ग्रस्त है तो किस प्रकार यज्ञकर्त्ता यजमान मृत्यु की पहुँच से बाहर हो सकता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- मृत्यु व्यक्ति के लिये होती है समष्टि के लिये नहीं। यज्ञ का उद्देश्य ही यह है कि व्यष्टि जीवन को समष्टि जीवन से मिला दिया जाय। जब यजमान ममता रहित व्यष्टि जीवन के चिन्ह मेरे तेरे पन के भावों से ऊँचा होकर क्रियात्मक रूप से अपने जीवन को व्यापक बना जनता जनार्दन की सेवा में मिला देना चाहता है तब वह मृत्यु के आक्रमण से स्वतन्त्र हो जाता है।

मनुष्य समाज को तीन भागों में विभक्त किया जाता है- देव, पितर, मनुष्य। निष्काम कर्म करने वाले देव कहलाते हैं। उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है। अच्छे कर्म सकामता के साथ करने वाले पितर कहलाते हैं वह पितृलोक को प्राप्त करते हैं। पितृलोक में सुख विशेष होता है।

अच्छे बुरे निश्चित कर्म करने वाले मनुष्य कहलाते हैं। इन्हें मृत्युलोक मिलता है। ये निरन्तर आवागमन के चक्र में फंसे रहते हैं।

याज्ञवल्क्य और विदुषी गार्गी के सम्वाद में गार्गी ने लोकों की स्थिति जाननी चाही। उनके उत्तर में ऋषि ने कहा- ब्रह्म सारे ब्रह्मांड का रचयिता और स्वामी है। उससे इधर उधर कुछ भी नहीं, प्रजापति आदि सभी उसी में ओत प्रोत हैं।

याज्ञवल्क्य और विदग्ध के सम्वाद में विदग्ध न पूछा- वेद के प्रसिद्ध देवता क्या हैं। ऋषि ने 33 देवता इस प्रकार बताये-

8 वसु- अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र

11 द्र- 10 प्राण तथा ग्यारवां जीवात्मा

12 इन्द्र- वर्ष के 12 महीने

13 विद्युत

14 जापति- यज्ञ

जनक की सभा में जब गार्गी याज्ञवल्क्य को अद्वितीय ब्रह्मवेत्ता के रूप में अजेय घोषित करके बैठ गई तो और कोई ब्राह्मण खड़ा नहीं हुआ किन्तु विदग्ध (जलने धुनने वाला) शाकल्य उठ खड़ा हुआ और उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी और कहा- हे याज्ञवल्क्य तुम अपने को ब्रह्मवेत्ता मानते हो किन्तु असल में ब्रह्मवेत्ता तो वह है जो सब प्राणियों के परमधाम (आश्रय) को जानता है। जो मन को ज्योति बनाकर अग्नि को समाधान मान मानो पृथिवी में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है।'

याज्ञवल्क्य ने कहा पर वह तो शरीर पुरुष है। ब्रह्म तो उससे बहुत अधिक है। वह ब्रह्म नहीं हो सकता। वह विशिष्ट सत्ता है।'

विदग्ध इससे हतप्रभ हो खीज कर व्यंग्य भरी वाणी में कहने लगा- ब्रह्म को तुम क्या जानोगे ? पहले यह बताओ कि क्या तुम्हें

दिशाओं उनके देवता और उनकी प्रतिष्ठाओं का ज्ञान है ?

याज्ञवल्क्य ने समाधान प्रस्तुत किया-

पूर्व दिशा- इसका देवता सूर्य है। सूर्य का आँख में, आँख का रूप में, रूप हृदय में प्रतिष्ठित होता है।

दक्षिण दिशा- इसका देवता यम है। जगत् को नियम में रखने वाले ईश्वर का नाम यम है। उसकी यज्ञ में, यज्ञ की दक्षिणा में, दक्षिणा की श्रद्धा में श्रद्धा की हृदय में प्रतिष्ठा होती है।

पश्चिम दिशा- इसका देवता वरुण है। जीवनदाता होने से उसका जल में, जल का रेत (वीर्य) में, रेत का हृदय में प्रतिष्ठित होना माना जाता है।

उत्तर दिशा- इसका देवता सोम है। शांतिप्रद ईश्वर सोम है। वह दीक्षा से जाना जा सकता है और दीक्षा हृदय में प्रतिष्ठित होती है।

ध्रुव दिशा- इसका देवता अग्नि है। पृथ्वी के भीतर अग्नि, अग्नि वायु में और वाणी हृदय में प्रतिष्ठित होती है।

विदग्ध ने फिर प्रश्न किया हृदय किसमें प्रतिष्ठित है। याज्ञवल्क्य ने इस प्रश्न को अनुचित जान उसे 'अहिल्लिक' जिसका लक्षणार्थ मूर्ख होता है कह दिया। विदग्ध शाकल्य ने फिर भी प्रश्न पूछना बन्द नहीं किया तब याज्ञवल्क्य ने उससे ब्रह्म के सम्बन्ध में जिसके लिये नेति-नेति प्रयुक्त होता है एक प्रश्न किया और कहा यदि वह उत्तर न देगा तो उसकी मूर्द्धा (गरिमा) गिर जायगी। वह उत्तर न दे सका और सभा में उसे अपमानित होना पड़ा।

जनक की आत्मज्ञान की अभिलाषा को तृप्त करते हुए याज्ञवल्क्य ने बताया- शरीर जो जीव का क्रीड़ास्थल है वही देखा जाता है। क्रीड़ा करने वाले जीव को कोई नहीं देख सकता क्योंकि वह निराकार

और अदृश्य होता है।

सोते समय गाढ़ निद्रा में अकस्मात् व्यक्ति को नहीं जगाना चाहिये क्योंकि जीव अपनी चेतनामय शक्ति को स्वप्नावस्था में स्थान विशेष पर एकत्र करके ठहरा करता है। अचानक जगाने से जहाँ जीव की चेतनामय शक्ति नहीं पहुँच पाती शरीर के उन अवयवों में कठिन रोग हो जाते हैं जो सुगमता से अच्छे नहीं होते। आयुर्वेद के आचार्य सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ में इसकी पुष्टि की है।

अनेक विचारशील व्यक्ति मानते हैं कि मनुष्य स्वप्न में वही देखता है जो जागृत अवस्था के अनुभव होते हैं। इस अवस्था में जीव सूर्यादि की ज्योति से नहीं अपितु अपनी ज्योति से ही काम लेता है।

जीव शरीर को छोड़ने से पहले जान लेता है कि उसे किस जगह जाना है। वह तत्काल पहुँच जाता है। कुछ समय लगता भी है किन्तु वह इतना कम होता है कि हम उसे सेकिण्ड या मिनट में नहीं नाप सकते। उदाहरण के लिये जौंक एक तिनके के सहारे दूसरे तिनके पर पहुँचने पर ही पहले तिनके को छोड़ती है।

जीव वर्तमान जीर्ण शीर्ण शरीर छोड़कर नया अधिक सुखप्रद बना लेता है। उसकी जैसी कामना होगी वैसी ही प्रतिभा वाला बनता है। जैसी प्रतिभा होगी वैसे ही कर्म करता है और जैसे कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिल जाता है।

ब्रह्म विद्या का मार्ग सूक्ष्म और नित्य है। इस मार्ग को त्याग, तपस्या और आत्म दर्शन अभिलाषा से प्राप्त किया जा सकता है। आगे चलकर इसी से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

ज्ञान और कर्म दोनों को साथ-साथ लेकर कर्म करना चाहिये

तभी आत्मोन्नति होगी। जो पृथक्-पृथक् एक दूसरे की उपेक्षा करके काम लेते हैं वे दोनों अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। ज्ञान शून्य या विवेकहीन कोई भी कर्म अनेक विधि दुःखद और अकल्याणकारक होता है।

जो विद्वान् ब्रह्म को जानकर प्राप्त कर लेता है कर्म का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा विद्वान् शांतिमय वातावरण उपस्थित कर अन्तर्मुख हो जाता है, अपने आत्म रूप में प्रविष्ट हो परमात्मा का दर्शन करता है। वह संसार के सब प्राणियों को आत्मवत् देखता है। इस अवस्था में आत्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त कर जीवनमुक्त और शरीर छोड़ने पर मुक्त हो जाया करता है।

इस उपनिषद् में शव (मृतक शरीर) को श्मशान तक ले जाना तप ही नहीं परम तप कहा गया है। शव से किसी को घृणा नहीं करनी चाहिये अपितु लोक सेवा समझ प्रसन्न चित्त जाना चाहिये। चिता को अग्नि देने को भी परम तप कहा गया है। आवश्यकता पड़ने पर किसी अन्य (परिवारीजनों को छोड़कर) की चिता में भी अग्नि लगानी पड़े तो प्रसन्नतापूर्वक तप समझकर यह काम करना चाहिये।



आख्यायिकायें

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद

मुनिवर याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ-मैत्रेयी और कात्यायनी थीं। (संभवतः पहली पत्नी से कोई सन्तान न होने से द्वितीय विवाह किया गया होगा। किन्तु उनकी कोई सन्तान न थी।) जब उनके हृदय में वैराग्य प्रबल हुआ उन्होंने सन्यास लेने का निश्चय किया। सन्यास लेने से पूर्व उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों में सम्पत्ति का बंटवारा करने के विचार से मैत्रेयी से कहा- हे मैत्रेयी मैं अब आगे बढ़ना चाहता हूँ अर्थात् सन्यास लेना चाहता हूँ। अतः यह उपयुक्त समझता हूँ कि धन सम्पत्ति का तुम दोनों में बंटवारा कर दूँ जिससे तुम निर्विवाद रूप से सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सको।

मैत्रेयी कहती है- भगवन ! इस धन वैभव से क्या मैं अमर हो

सकूंगी ?

याज्ञवल्क्य- नहीं देवी ! धन धान्यरूप भौतिक सम्पत्ति से धनिकों जैसा तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होगा किन्तु अमरत्व-मोक्ष, परम शांति की तो इस धन वैभव से कभी आशा नहीं की जा सकती।

मैत्रेयी- भगवन ! मुझे तो वही अमरत्व प्रिय है जिसकी प्राप्ति हेतु आप सन्यास ले रहे हैं। जिस धन धान्य को पाकर मैं तृप्त नहीं हो सकती, अमर नहीं हो सकती, मुक्त नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूंगी? अतः मुझे तो सांसारिक दुखों से छूटकर परमानन्द पाने का जो उपाय आप जानते हैं, उसी का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसकी ऊँची अभिलाषा, जिज्ञासा की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने मैत्रेयी को अध्यात्म ज्ञान का उपदेश इस प्रकार दिया- जीवात्मा अपने ज्ञान और बल को केवल ज्ञान की कोटि से

निकालकर अनुभव की कोटि में लाया करता है। आत्मशक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर और आत्मबल साक्षात् करने से वह आत्मज्ञ बन जाता है फिर उसे सांसारिक ज्ञान और कर्म निम्न प्रतीत होते हैं। इसलिए वह उनकी ओर न जाकर अपने को परमात्मा की ओर चलने और उसके साक्षात्कार करने का अधिकारी समझने लगता है।

हे मैत्रेयी आत्म दर्शन से सब कुछ विदित हो जाता है। आत्मा के जानने पर सर्वान्तर्यामी परमात्मा को जानना आसान है। आत्मा के बोध होने पर ब्रह्मांड के आत्मा परमात्मा का बोध होना प्रारम्भ हो जाता है। सर्वज्ञ सत् चित आनन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार होने से ही मानव अमर होता है।

परमात्मा के न्याय नियमों से बंधी हुई आत्मायें-सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार संसार रूपी रंग मंच पर आते रहते हैं। अपने दुष्कृत्यों से कष्ट क्लेश आपत्ति प्राप्त करते हैं और सुकृत्यों से अमरत्व पाकर सुदीर्घकाल तक जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं, प्राणप्रिय परमात्मा की गोद में बैठकर परमानन्द को पा जाते हैं। उसे जानकर फिर कुछ जानने और पाने योग्य बचता ही नहीं।



राजा जनक याज्ञवल्क्य संवाद

(आत्मा को नेति-नेति क्यों कहा गया है ?)

राजा जनक अध्यात्मतत्त्व के पंडित थे। एक दिन याज्ञवल्क्य ने पूछा- आपको किसी विद्वान् ने जो बताया हो उसे बतायें।

जनक- वाणी ही महान् है।

याज्ञवल्क्य- यह उपदेश एक पैर वाला आशिक है।

जनक ने प्रार्थना की, आप ही बतायें

याज्ञवल्क्य- वाणी महान् है उसका महत्त्व है किन्तु वह ब्रह्म नहीं ब्रह्म शब्द वेदवाचक है और वाणी से ही वेद सिखलाये तथा सुनाये जा सकते हैं। अतः वाणी महत्त्वपूर्ण है किन्तु अर्थरूप वाणी शब्दरूप वाणी के भीतर रहती है। उसका ज्ञान न होने पर किसी वाच्य का आशय नहीं समझा जा सकता। अतः वाणी का शरीर और अर्थ न जानने से यह अधूरा ज्ञान है। शब्द और अर्थ दोनों का ज्ञान होने से ही मनुष्य ज्ञानी हुआ करता है।

वाणी के आश्रय आकाश के दो अर्थ हैं एक भौतिक जिसका मुख्य शब्द (वाणी) है। दूसरे अर्थ ब्रह्म-ईश्वर। ईश्वर सर्वव्यापक होने से सभी का आश्रय है और भौतिक आकाश भी गुणी होने से शब्द रूपी गुण का आश्रय स्थान हो सकता है। इन दोनों आश्रयों को जान लेना ही वाणी के साथ आवश्यक है।

जनक ने फिर कहा- प्राण ही महान् है। उसके बिना मनुष्य क्या कर सकता है ?

याज्ञवल्क्य ने पूछा प्राण का आयतन और प्रतिष्ठा क्या है ?

जनक- यह शिक्षा मुझे नहीं मिली।

याज्ञवल्क्य- प्राण का आयतन प्राण ही है। शरीर शरीरी की अपेक्षा गौण है। आकाश ब्रह्म वाचक है। अतः दोनों दृष्टियों से प्राण का आश्रय हो सकता है। प्राण प्रिय होता है। जीवन रक्षा हेतु ऐसे कार्य कर लिये जाते हैं जो सामान्य अवस्था में नहीं होते जैसे दान लेने के अयोग्यों से दान

लेना या उपस्त द्वारा महावत् के झूठे उड़द खाना। प्राण की उपयोगिता समझकर तदनुकूल आचरण करने वाले जीवन से वंचित नहीं रहते। याज्ञवल्क्य ने जनक से प्रश्न किया- आप छूटकर कहाँ जायेंगे। जनक- मैं नहीं जानता आप ही बताइये। तब ऋषि ने बताया-

जागृत अवस्था में जीव का स्थान दाईं आँख में होता है क्योंकि जागृत अवस्था का ज्ञान आँख से ही होता है। यह अवस्था इन्द्रियों के काम करने की अवस्था है। अतः इन्द्रियों को मर्यादा में रखने से ही उपासक को आत्मा की ओर ले जाने का कारण बना करती हैं। स्वप्नावस्था में केवल अन्तः इन्द्रियाँ काम करती हैं। अतः यहाँ भी जीव का स्थान आँख ही हुई। सूक्ष्म शरीर जीव के आश्रित होता है। सुप्तावस्था में सूक्ष्म शरीर में से प्राण के सिवा और कोई अदृश्य काम नहीं करता। मन इन्द्रिय आदि सभी के काम बन्द हो जाते हैं। तुरीयावस्था में बाहरी काम सब बन्द होते हैं। आन्तरिक कार्य जारी रहते हैं। बाह्य कार्यों की दृष्टि से ही आत्मा को नेति-नेति कहा है।

याज्ञवल्क्य की शिक्षा का सार यह है कि संसार में निर्भीकता प्राप्त करने अथवा परलोक को उज्ज्वल बनाने अथवा ईश्वर तक पहुँचने के लिए आवश्यक है कि उपासक बाहर से भीतर की ओर चले और इतना धुसे कि बाहर का जगत उस पर कोई प्रभाव न डाल सके। इसी अवस्था को योग दर्शन में चित्त की वृत्तियों की निरुद्धावस्था कहा गया है।



उपदेश 'द'

एक बार देव, मानव और दानव तीनों एक साथ प्रजापति के पास जीवन का कोई उपयोगी सूत्र सुनने के लिए गये। तीनों बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे कि ऋषि जीवन-कला का पता नहीं कौनसा लाभदायक सूत्र प्रदान करेंगे ? तीनों को अनुमान था कि कोई अलग अलग बात मिलेगी क्योंकि तीनों के दृष्टिकोण, तौर तरीकों में भारी भिन्नता थी।

प्रजापति ने तीनों को अलग-अलग उपदेश न देकर कहा- मैं उपदेश के रूप में केवल एक अक्षर देता हूँ- 'द' इससे तुम्हें सब प्रकार का लाभ मिलेगा। यह वह उपदेश है जिसमें तुम तीनों के लिये अलग-अलग सब कुछ कहने योग्य सार तत्त्व आ गया है। तीनों प्रजापति के उपदेश को न समझ पाये। उन्होंने निवेदन किया- प्रभो! हम तो इससे कुछ भी नहीं समझ पाते हैं। कृपया इसका अभिप्राय तो स्पष्ट करके बतायें।' प्रजापति ने अब 'द' का अभिप्राय तीनों को इस प्रकार समझाया-

देवों के लिये 'द' के उपदेश का अभिप्राय है- दमन। आप चिरकाल से आराम से रहने के कारण कामी विलासी बन गये हैं। सारा समय भोग विलास और आमोद प्रमोद में नष्ट करते हैं। आपका उच्च आध्यात्मिक जीवन के प्रति कोई अनुराग नहीं रह गया है। अतः इन्द्रिय दमन करें और कर्मशील बनें।

मानव के लिये 'द' के उपदेश का अभिप्राय-दान। आप दानदाता बनें, यदि दानदाता न बन सकें तो उदार अवश्य बनें। मानव बड़ा लोभी है। धन संग्रह में उचित अनुचित, ईमानदारी-बेईमानी का ध्यान नहीं रखता। दिन रात शोषण करता है न स्वयं उपभोग करता है न दान देता है। धन संग्रह ने उसे पागल बना दिया है।

दानव के लिए 'द' के उपदेश का अभिप्राय-दया है। आप दया

भाव का विकास करें। दानव बड़े क्रूर-क्रोधी हैं। आवेश और उत्तेजना के क्षणों में आग बबूला हो उठते हैं। गाली गलौज करते हैं और कटु वचन बोलने लगते हैं।

वास्तव में इन्द्रिय दमन, दान और दया जैसी सम्पदाओं को अपने स्वभाव और चरित्र में विकसित करके ही तीनों का जीवन सफल होगा। मनुष्य की चंचल इन्द्रियाँ कभी एक ही दिशा में स्थिर नहीं रहतीं। अवसर मिलते ही वे अपने भोग विलास (भोग विषयों की ओर) में दौड़ने लगती हैं। अतः उसको विषय लोलुपता के प्रति सदैव सावधान रहना चाहिये। धन की उपयोगिता दीन दुखियों के अभाव दूर करने में है। जो दान नहीं करते, कंजूस बने रहते हैं वे अपनी संग्रह वृत्ति के कारण सदैव कष्ट पाते हैं, उन्हें अपने धन लुट जाने का सदैव डर बना रहता है। अतः अपनी आवश्यकताओं से बचा हुआ धन दान के रूप में समाज को वापस कर देना चाहिये। दया के अभाव में क्रूरता की वृद्धि होती है, मानवता के गुणों का ह्रास होता है क्षमा का महत्व समाप्त होता है। अतः दयाभाव का विकास होना चाहिए।



(११) श्वेताश्वतरोपनिषद्

इस उपनिषद् में जीव, ईश्वर प्रकृति तीनों पदार्थों का अनादिपन वेद मन्त्रों से अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रतीत कराय गया है। ईश्वर के ज्ञान से सब प्रकार के दुखों से छूटना उसके लिए स्तुति प्रार्थना और योगाभ्यास का वर्णन है।

उपनिषद् में त्रैतवाद ईश्वर, जीव, प्रकृति का स्पष्ट वर्णन है। परमात्मा एक है अद्वितीय है वह स्वयं रूप रंग से रहित है किन्तु उसने अपनी शक्ति से अनेक रंग रूपों वाली वस्तुओं-विविध प्रकार की रचनाएँ की हैं। जीवात्मा का कोई लिंग नहीं होता। वह भिन्न-भिन्न रूपों, भिन्न-भिन्न शरीरों में रहने वाला अनेक है। प्रकृति रज, सत्व, तम गुणों वाली अनेक प्रकार के पदार्थों का निर्माण करती है। इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया है- ईश्वर और जीव सुन्दर पंखों वाले पक्षी की भाँति हमेशा एक दूसरे के मित्रवत् प्रकृति रूपी वृक्ष पर एक साथ रहते हैं। एक पक्षी जीवात्मा तो प्रकृति रूपी वृक्ष का फल बड़े स्वाद से खा रहा है और दूसरा परमात्मा उसे साक्षी के रूप में देख रहा है। लोक में न्यायाधीश सत्य असत्य के निर्णय के लिये साक्षी के द्वारा जानकारी प्राप्त करता है किन्तु परमात्मा ऐसा न्यायाधीश है कि जो न्याय भी करता है और स्वयं साक्षी भी है। उसको साक्षी के लिये किसी दूसरे देवी देवता पीर पैगम्बर या गुरु आदि के माध्यम की आवश्यकता नहीं।

अग्नि जब अपने कारण में चली जाती है तब उसका स्थूल रूप तो दिखाई नहीं देता किन्तु उसका नाश नहीं होता। ईंधन के रूप में उसका चिह्न बना रहता है जिससे पुनः उसका रूप ग्रहण किया जा सके। इसी प्रकार प्रणव अर्थात् ओंकार से देह में जीवन तथा ईश्वर दोनों का ग्रहण किया जाता है।

इन्द्रियों को मन के अधीन, मन को हृदय में निविष्ट करके विद्वान् ब्रह्म नाम रूपी नौका पर सवार होकर संसार रूपी नदी के जितने पाप रूप भयावह स्त्रोत हैं उन सबको तैर जाय।

जो ईश्वर अग्नि में, जलों में सम्पूर्ण भुवनों में सर्वव्यापक है उस देव को नमस्कार है।

महान् पुरुष (परमात्मा) जो आदित्य की भांति है, अन्धकार से दूर है उसी को जानकर मृत्यु को जीता जा सकता है, इसके अतिरिक्त कल्याण का कोई मार्ग नहीं। वह महान् पुरुष बिना हाथ पाँव के शीघ्र गति और ग्रहण करने वाला है। वह बिना आँख देखने और बिना कान सुनने वाला है। वह समस्त पदार्थों का ज्ञाता है। वह सर्वश्रेष्ठ है। विश्व के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु का भी वह अनेक प्रकार से सृष्टा है। वह विश्व का अकेला नियंता है। उसके ज्ञान, बल, क्रिया सब स्वाभाविक हैं। विश्व में उसका कोई स्वामी नहीं है। कोई उस पर शासन करने वाला नहीं। उसका कोई उत्पादक नहीं। उसका कोई अधिपति नहीं। वह जगत का कारण और इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का भी स्वामी है। धीर लोग उसे अपनी आत्मा में स्थित देखते हैं और निरन्तर सुख प्राप्त करते हैं।

जो नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, जो एक होता हुआ भी अनन्त जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है। वही सृष्टि का कारण है। यह जीव उस परमदेव को जानकर सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

जो निष्फल, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्लेप है। जो अमृत तक पहुँचने के लिए पुल के समान है। मुमुक्षु को उस देव की शरण में ही जाना चाहिये।

योगाभ्यास से सब अंगों को पुष्टकर, इन्द्रियों को बलयुक्त एवं सन्मार्ग पर चलने वाली बनाकर उपनिषद् में वर्णित उस महान् पुरुष प्रभु को स्मरण कर, उसकी शरण में जाने से ही कल्याण हो सकता है।

उपनिषद् के अन्त में लिखा गया है आकाश को जैसे चमड़े की तरह लपेटा नहीं जा सकता वैसे ही परमात्मा को जाने बिना मनुष्य के दुखों का अन्त नहीं हो सकता। जिनकी परमात्मा में, तत्त्व ज्ञानी गुरु में श्रद्धा भक्ति होती है उन्हीं को उपनिषदों के रहस्य समझ में आते हैं।



आख्यायिका

ब्राह्मण कौन ?

जो भगवान का काम करता है वह ब्राह्मण होता है। भगवान सबका जीवन चलाते हैं। अतः जो सबको जीवन चलाने में सहायता करने वाला उत्साह प्रदान करने वाला है वही ब्राह्मण होता है। उसे ही भूदेव-भूमि का देव भी कहते हैं।

भगवान का काम करने वाले को अपनी अधिक शक्ति समाज के लिये प्रयुक्त करनी पड़ती है। वह अपनी भौतिक आवश्यकतायें पूरी करने में अपनी बहुत थोड़ी शक्ति व्यय करता है। ब्राह्मण जाति से नहीं वृत्ति से होता है।

सह्यादि पर्वत से नीचे उतरने पर परशुराम ने आस-पास के लोगों को देखा। वह खाते-पीते, नाचते-गाते भी थे। उनका यह जीवन देखकर उन्हें कष्ट हुआ क्योंकि यह उन्हें अस्वच्छ, असंस्कृत लगा। आज नाचने गाने को सांस्कृतिक कार्यक्रम का नाम देकर अच्छा और विकास का चिन्ह माना जाता है। संसार के प्रसिद्ध दार्शनिक रसेल ने कहा है- 'नाचना गाना आदि अतृप्त कामना का परिणाम है।'

ब्राह्मण वर्ग पूजनीय रहा है। उसका एकमात्र कारण यही था कि वह अपनी आवश्यकताओं को संयमित कर थोड़े में अपना भौतिक जीवन व्यतीत कर शक्ति संचित करता था और उस शक्ति को समाज को सुसंस्कृत बनाने में व्यय करता था। ब्राह्मण का मन स्वच्छ एवं नियंत्रित होता है।

ब्राह्मण को महाप्राज्ञ भी कहते हैं। महाप्राज्ञ कैसा होता है यह राम लक्ष्मण के एक सम्वाद से स्पष्ट होता है- जंगल में राम, सीता लक्ष्मण अकेले बैठे थे। राम ने लक्ष्मण से पूछा- फूल समान सुन्दर स्त्री के यौवन को देखकर किसका मन चलित नहीं होता ? लक्ष्मण ने कहा- जिसका पिता पवित्र है, माता पतिव्रता है उसका मन चलित नहीं होता।' राम ने कहा बात तेरी सही है परन्तु तुझे क्या पता। नारी अग्नि

कुण्ड के समान है पुरुष धी के कुंभ जैसा है! एकान्त में सुन्दर स्त्री बैठी हो किसका मन चलित नहीं होता ? लक्ष्मण ने उत्तर दिया- मन तो सर्वत्र मदोन्मत्त हाथी के समान दौड़ता है परन्तु जिस पर जानाकुश के समान बुद्धि होती है उसका मन चलित नहीं होता।' राम उत्तर सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने लक्ष्मण को महाप्राज्ञ कहा। अतः ब्राह्मण महाप्राज्ञ इसीलिये कहलाता है कि वह जानाकुश द्वारा मन को सदैव नियंत्रण में रखता है।

ब्राह्मण का हृदय विशाल होता है। वह केवल अपनी उन्नति से संतुष्ट नहीं रहता अपितु अपने व्यक्तित्व से दूसरों का जीवन उन्नत करने का सदैव प्रयास करता है। वह जन नेता होता है। वह मनुष्यों को भौतिक क्षुद्र विषयों को देखकर लालची नहीं बनने देता। वह दैवी नेता होता है जो प्रभु भक्ति से अपना जीवन उन्नत करके परोपकार की भावना से दूसरों का जीवन बदलने का प्रयत्न करता है। वह किसी पर अपनी श्रेष्ठता नहीं दिखाता।

ब्राह्मण प्रभु की कृपा और उसकी न्याय व्यवस्था के प्रति पूर्ण निष्ठा रखता है। वह लोक संग्रह की बात नहीं सोचता बल्कि लोगों का कल्याण किसमें है उसे साहस से करता है। लोग क्या कहेंगे, उन्हें कैसा लगेगा ? इसकी वह कतई परवाह नहीं करता। इसीलिये ब्राह्मण के जीवन की सुगंध देखकर भौरे की भांति लोग उसकी ओर खिंचे चले आते हैं।

ब्राह्मण वेद के विचार से मण्डित होता है। वह वेद को पढ़ने वाला और उसको सुनाने वाला होता है। वह वेद पढ़कर तेजस्वी विचार अपने में लाता है और उन्हें समाज में ले जाने का काम करता है। इसीलिये कहा जाता है कि जहाँ ब्राह्मण खड़ा होगा वहाँ समाज से अज्ञान, दुर्बलता, दीनता नष्ट हो जायगी।

जो भगवान को मानने वाला है उसके पीछे खड़ा होना ही मानो ब्राह्मण भोजन है। वस्तुतः जो आस्तिक है, पवित्र है, अपनी सभ्यता-संस्कृति का रक्षक है और समाज में मंगल की दृष्टि रखकर अपना जीवन चलाता है वही ब्राह्मण होता है।



एकादश (11) उपनिषद् एक दृष्टि में

(1) ईशोपनिषद्- यजुर्वेद से संबंधित है। इस उपनिषद् में जीवन जीने की सच्ची कला का वर्णन है।

- 1- ईश्वर को सर्वव्यापक मान सभी से स्नेह करें, किसी से भी घृणा न करें।
- 2- संसार की सब वस्तुएँ ईश्वर की मानें उन्हें अपना न समझ कर केवल उनके प्रयोग का अपना अधिकार समझें।
- 3- शांति जीवन के लिये अपरिहार्य समझकर किसी के अधिकार का अपहरण कर अशांति उत्पन्न न करें।
- 4- सम्पूर्ण सृष्टि में कर्म की महत्ता समझ कर जीवन के अन्तिम क्षण तक कर्म करते रहें।
- 5- आत्म प्रेरणा की अवहेलना न कर उसके अनुसार कार्य करके चरित्र का निर्माण करें।
- 6- ब्रह्म की समीपता की प्राप्ति हेतु जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या-तप से आत्मा, निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करें।
- 7- ज्ञान और कर्म के समन्वय के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान उपलब्ध कर उसे कर्म में परिणत करें।
- 8- सत्य ही धर्म है। जो मन-वचन-कर्म से सत्य को प्रश्रय नहीं देता वह आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। सत्य के आवरण चमकीले ढकने को हटाकर कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

(2) केनोपनिषद्- इस उपनिषद् का विषय- मन, इन्द्रिय और प्राणों का नियंत्रण करने वाला परमात्मा है। तप, दम, कर्म और वेदों का अध्ययन इन चार साधनों से प्रभु की उपासना कर महान विनाश से बचना चाहिये।

संसार में सब कुछ प्रभु कृपा और उसकी शक्ति से ही संभव है। मनुष्य स्वतन्त्र कर्त्ता होते हुए भी अपने को निमित्त मात्र मानकर कर्त्ता प्रभु को समझे इससे विनाश के महान कारण अहंकार से दूर रह सकता है।

- (3) कठोपनिषद्- यजुर्वेद की कठशाखा से सम्बन्धित है। इसमें श्रेय और प्रेय मार्ग का सुन्दर वर्णन है। आत्मदर्शन के तीन उपाय हैं- निष्काम कर्म, हर्ष-शोक से विरक्ति, और प्रभुकृपा। इससे ब्रह्मविद्या के विशद वर्णन के साथ जिज्ञासु नचिकेता की दृढ़ता और यमाचार्य द्वारा अतिथि सत्कार की सुन्दर प्रेरणा प्राप्त होती है। नचिकेता ने अपनी दृढ़निष्ठा के बल पर ही यमाचार्य से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की।

बुद्धि के विवेक, मन की एकाग्रता, इन्द्रिय रूपी अश्वों की सन्मार्गगामिता से यह दिव्य जीवन रथ लक्ष्य पर पहुँच सकता है। मनुष्य अपने कर्म और वासना के अनुसार विभिन्न योनियों में आता है और इन्द्रिय रूपी अश्वों का नियंत्रण करने पर ही जीवन रथ लक्ष्य पर पहुँच सकेगा। जो पुरुष मृत्यु से पूर्व आत्मा को जान लेता है वही अमृत बनकर ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

- (4) प्रश्नोपनिषद्- अथर्ववेद से सम्बन्धित है।

इसमें 6 ऋषियों के 6 प्रश्नों-

1. सृष्टि के प्रारम्भ में प्राणियों की उत्पत्ति कैसे ?
2. प्रजा को कौन धारण करता है ?
3. प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है ?
4. सुख दुख किसे अनुभव होता है ?
5. ओंकार का जाप करने वाला किस लोक को जीत लेता है ?
6. सोलह कलाओं वाला पुरुष क्या है और कहाँ रहता है ?

का महर्षि पिप्पलादि के उत्तरों सहित वर्णन है। ऋषि के उत्तर इस प्रकार हैं-

1. प्रजापति द्वारा रयि और प्राण द्वारा प्राणियों को उत्पन्न किया गया।
2. प्राण ही धारण करता है और मुख्य है।
3. प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है और वह आत्मा से ही लगा रहता है। शरीर से तेज निकलने पर वह भी निकल जाता है।
4. मन ही इस शरीर में सुख दुख का अनुभव करता है।
5. परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।
6. सोलह कलाओं वाला पुरुष शरीर के भीतर रहता है। कलाओं से ही ब्रह्मांड और पिंड का निर्माण होता है।

(5) माण्डूक्योपनिषद्- अथर्ववेद से सम्बन्धित है।

अगिरा ऋषि ने शौनक को जो उपदेश दिया वह इसमें सम्मिलित है।

ब्रह्म इन्द्रियाँ का विषय नहीं। विश्व का अन्तरात्मा ब्रह्म है। परमात्मा जीवात्मा परस्पर मित्र एक वृक्ष पर सुन्दर पक्षी रूप में बैठे हैं। जीवात्मा फलों को स्वाद से खाता है परमात्मा सब कुछ देखता है।

सत्य की जीत होती है। दिव्य जीवन का मार्ग सत्य से ही बना है।

ब्रह्म अन्तरात्मा की गुहा में स्थित है। शुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञान मार्ग से उसे देख पाता है।

(6) माण्डूक्य उपनिषद्- अथर्ववेद की माण्डूक्य शाखा से सम्बन्धित है। इसमें परमात्मा के मुख्य नाम ओइम् की ही व्याख्या की गई है। ओंकार ही परमेश्वर है।

(7) ऐतरेयोपनिषद्- ऋग्वेद से सम्बन्धित है। इसे महिदास ऐतरेय ने बनाया। इसमें स्थूल जगत की रचना, जीव का गर्भ के कण्टों का अनुभव करना तथा उनसे छूटने की प्रतिज्ञा, जीव-ईश्वर की विभिन्नता के साथ मोक्ष प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

(8) तैत्तिरीय उपनिषद्- यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसे तित्तिर ऋषि ने बनाया। इसमें उस आचरण करने का वर्णन है जिससे मनुष्य का कल्याण हो सके। कर्म की महानता समझकर स्वाध्याय और प्रवचन को कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

प्रतिदिन सूर्य की भाँति ऊँचा और पवित्र बनने, परमात्मा को ही अपनी उज्ज्वल शक्ति और आत्मा को नाश न होने वाली समझने का संकल्प करना चाहिए। इस उपनिषद् में आचार्य का शिष्य को दिया गया दीक्षान्त भाषण भी सम्मिलित है। जो आनन्द रूप ब्रह्म को जान लेता है वह कभी भयभीत नहीं होता।

(9) छान्दोग्य उपनिषद्- सामवेद के छान्दोग्य ब्राह्मण से सम्बन्धित है। इस उपनिषद् में सम्पूर्ण जगत में ईश्वर के साम्राज्य एवं मुक्ति का वर्णन है। इस उपनिषद् में अनेक सुन्दर आख्यायिकायें हैं जिनमें आत्मा की सत्ता, आपद्धर्म, धैर्य से आत्मज्ञान आदि के साथ मनुष्य का कर्तव्य बताया गया है।

(1) नियमित रूप से प्रतिदिन वेदों का पढ़ना।

(2) गुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा करना।

(3) समावर्तन करके ही गृहस्थ में प्रवेश करना।

(4) कुटुम्ब सहित स्वाध्याय करना और कराना।

(5) अन्तर्मुखी होकर मोक्ष प्राप्त करने का यत्न करना।

(10) बृहदारण्यक उपनिषद्- शतपथ ब्राह्मण से सम्बन्धित है। इसमें अरण्य (जंगलों) में ऋषियों और विदेह राजा जनक की विद्वत् सभा में होने वाली आध्यात्मिक चर्चा का वर्णन है। मृत्यु के बन्धन का मूल कारण

स्वार्थ एवं पाप होने से प्रभु से प्रार्थना की गई है असत् से सत्य की ओर, तम से प्रकाश की ओर, मृत्यु से मोक्ष की ओर चलने की। मनुष्य को पंचयज्ञ करने चाहिए। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी, जनक-याज्ञवल्क्य आदि अनेक सुन्दर सम्वाद हैं। प्रजापति द्वारा देव, मानव और दानवों के लिए जीवन उपयोगी सन्देश है।

(11) श्वेताश्वतरोपनिषद्- इस उपनिषद् में तीन अनादि सत्ताओं जीव, ब्रह्म, प्रकृति के अनादित्य को स्पष्ट किया गया है, मनुष्य को सब प्रकार के दुखों से छूटने के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और योगाभ्यास की प्रेरणा की गई है। एक सुन्दर आख्यायिका द्वारा बताया गया है कि जो भगवान का कार्य करता है वही ब्राह्मण होता है।

घोषणा - प्रकाशन का स्थान - सासनी

प्रकाशन अवधि - मासिक

प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक-महेशचंद्र गर्ग, सासनी (हाथरस)
स्वत्वाधिकारी- वैदिक सेवाश्रम ट्रस्ट, सासनी मैं घोषित करता
हूँ कि उक्त विवरण मेरी जानकारी, विश्वास में सत्य हैं।

ह. महेशचंद्र गर्ग

**जीवनवृत्त दिवं० बनारसीदास गुप्ता
एवं दिवं० कृष्णादेवी, सासनी (हाथरस)**

1. गुप्ताजी कर्म के पुजारी थे। उन्होंने सदैव पूजा के वाह्य स्वरूप को गौण समझते हुए कर्तव्य पालन को ही परमात्मा की सच्ची पूजा माना तो उनकी पत्नी कृष्णादेवी ने भी जीवन भर श्रम की प्रतिष्ठा की। उन्हें किञ्चित् भी आलस्य नहीं था। क्रियाशीलता उनके जीवन का महत्वपूर्ण गुण बना रहा। अंतिम 6-7 वर्षों में पक्षाघात के प्रभाव से ही उनकी क्रियाशीलता अवरुद्ध हुई।
2. लालाजी व्यवहार से सौम्य, मधुर और समाज के विभिन्न कार्यों में सहयोगी रहते थे, तो उनकी सहधर्मिणी कैसे पीछे रहतीं। वह शान्ति प्रिय महिला थीं। उनकी परोपकारी वृत्ति थी। उन्हें खाने की अपेक्षा खिलाने में आनन्द आता था। उनकी बांटकर खाने की प्रवृत्ति बहुत थी भले ही पीछे उन्हें स्वयं खाने को न बचे।
3. लालाजी की स्कूली शिक्षा कम थी किन्तु अपने अभ्यास से व्यापारिक हिसाब किताब में दक्षता प्राप्त की और उन्हें शिक्षा के प्रति अनुराग था इसीलिए बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलाई ऐसे ही देवीजी ने भी सीखने की प्रखर प्रवृत्ति के बल पर अशिक्षित होते हुए भी इतना अभ्यास कर लिया कि पुस्तकें पढ़ने लगीं।
4. गुप्ताजी समय का सदुपयोग रसिया, लोकसाहित्य सृजन में करते थे। वह कभी खाली नहीं बैठते और दूसरों को भी यही प्रेरणा देते थे। देवीजी धार्मिक अनुष्ठानों में और कुशल गृह व्यवस्था में समय का सदुपयोग करती थीं।

5.

लालाजी सच्चे प्रभु भक्त थे उन्हें प्रभु की न्याय व्यवस्था पर दृढ़ विश्वास था। वह कठिन परिस्थितियों में भी उद्वेलित नहीं होते थे। इसी प्रकार देवीजी भी बड़ी धैर्यवान थीं।

वस्तुतः दोनों का जीवन आदर्श और अनुकरणीय रहा।

परिवार परिचय

बाबा	छोतरमलजी गुप्ता (दिवं०)
पिता	मोहनलालजी गुप्ता (दिवं०)
भाई	मुरारीलालजी गुप्ता (दिवं०)
	श्री राधेश्यामजी गुप्ता
पत्नी	कृष्णा देवी (दिवं०)
पुत्र व पुत्रवधुयें	राजेन्द्रकुमार गुप्ता श्रीमती रानी गुप्ता
	पदमकुमार गुप्ता श्रीमती बबिता गुप्ता
	आनन्दस्वरूप गुप्ता श्रीमती राजवाला गुप्ता
	राजीवकुमार गुप्ता श्रीमती नीतू गुप्ता
पुत्री	श्रीमती प्रेमलता पत्नी श्री विजेन्द्र लश्करी
	श्रीमती रश्मि पत्नी श्री मनोजकुमार गुप्ता
पौत्र	हिमांशु, भव्य गुप्ता, लयन वरदान
	हर्षित वरदान, दर्पित वरदान, हार्दिक वरदान
पौत्री	श्रीमती हिमानी श्री अंकित कुमार
	कु० सेवी, गुरवी